प्रकाशक
मार्तंड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

दूसरी बार : १९४८
मूल्य
दो रुपया

मुद्रक
अमरचन्द्र
राजहंस प्रेस,
नई दिल्ली १२-'४८

दो शब्द

आचार्य काका कालेलकरके लेखोंका यह संग्रह नये रूपमें पाठकोंके सामने रखा जा रहा है। काकासाहब अब हिन्दी साहित्य संसारमें भी सुविदित हो गये हैं। वे हिन्दुस्तान के गिने चुने मनीषियोंमेंसे हैं। मनीषि सुसंस्कार और सुरुचिकी दीक्षा देकर लोक-जीवनको प्रसादयुक्त तथा कान्तिमय बनाते हैं। अपनी अुक्ति अेवं कृतिसे वे समाजके सांस्कृतिक मूल्योंका रक्षण और संवर्धन करते हैं। अिस अर्थमें काकासाहब सचमुच आचार्य हैं। वे आचार्यवान् बुद्धियोगी हैं। अुनकी वाणी केवल शास्त्र-शुद्ध ही नहीं, तपःपूत और अनुभवसिद्ध भी है। अुसकी रुचिरतामें विज्ञान की सूक्ष्मता और अनुभवका तेज है। विज्ञानकला और अनुभवका अैसा मनोहर त्रिवेणीसंगम और कहीं शायद ही देखनेको मिले।

काकासाहब अेक दूसरे और अुदात्त अर्थमें 'परिव्राजक' हैं। वे अपनी मातृभूमिको ही अपना तीर्थक्षेत्र मानते हैं। अिस पवित्र भूमिसे और अुस पर रहनेवाले सभी संप्रदायों तथा जातियोंके लोगोंसे अुन्हें सच्चा अेवं गहरा अनुराग है। वे अिस देशकी यात्रा निरंतर करते रहते हैं, न कभी थकते हैं न अूबते हैं। अुनकी श्रद्धा और भक्ति नित्य बढ़ती ही जाती है। अिसी-लिये अुनके दर्शनमें विविधता, व्यापकता और सुगमताका मधुर संयोग है। अुनकी दृष्टि केवल अखिल भारतीय ही नहीं, सार्वभौम है। अिसीलिये अुनके विचार सर्वस्पर्शी और जीवन-निष्ठ हैं। भारतवर्ष अुन्होंने सिर्फ नक्शोंमें नहीं देखा है। सभी प्रान्तोंके जीवनके साथ अुन्होंने प्रत्यक्ष परि-चय प्राप्त किया है। भक्तको अपने अिष्टदेवताके दर्शनोंसे जो आनंद होता है; काकासाहबको भारतमाताके दर्शनोंसे वही आनन्द होता है। अिसीलिये वे चिरप्रवासी रहे हैं। हमने बहुतसे चलते फिरते पुस्तकालयों की बात सुनी है। काकासाहब अेक जीतेजागते 'विश्वकोष' की तरह समाजमें सांस्कृतिक मूल्योंका प्रकाश फैलाते हैं। जीवनका शायद ही अैसा कोअी पहलू हो जिसका अुन्होंने अपनी विशिष्ट दृष्टिसे विचार न किया हो।

अुनके विचारोंमें सुविज्ञता और वैज्ञानिकता है, और अुन विचारोंको प्रकट करनेकी शैलीसे अुनकी रसिकता और व्यापक सहानुभूतिका परिचय मिलता है।

सस्ता साहित्यमंडलने, पहले काकासाहबके लेख 'जीवन साहित्य'के नामसे दो भागोंमें प्रकाशित किये थे। अुनमेंसे कुछ चुने हुअे लेखोंके अतिरिक्त कुछ नये लेख भी अिस संस्करणमें लिये गये हैं। मूल लेख काकासाहबने गुजरातीमें लिखे हैं। अनुवादमें अुनकी शैलीकी सारी सुन्दरता और विशेषता ज्यों-की-त्यों लाना अनुवादककी सामर्थ्यसे बाहर है। वह तो अितना ही कर सकता था कि अनुवादमें अर्थहानि न होने दे। गुजराती भाषाकी भी अपनी अेक खास मोड़ है। अनुवादपर थोड़ी-बहुत अुसकी भी छाया है। लेकिन आन्तरप्रान्तीय सांस्कृतिक जीवनके विकासकी दृष्टिसे अनुवादके ये दोष दूषणभूत नहीं माने जायेंगे। अनुवादके विषयमें अिससे अधिक कुछ कहना अविनय का लक्षण होगा। आशा है, अिस 'जीवन साहित्य' के द्वारा पाठकोंको जीवन और साहित्य दोनोंका अेवं 'जीवनदायी साहित्य' का स्थायी लाभ मिलेगा।

कोल्हापूर (महाराष्ट्र)
१० दिसम्बर १९४८

—श्रीपाद जोशी

विषय-सूची

जीवन-साहित्य

जीवन-संस्कृति

जीवित-अितिहास

जीवन-साहित्य

१

पुराने खेत में नई जुताई

अेक बूढ़े आदमीने अपनी मृत्युके समय अपने लड़कोंसे कहा कि अुसके खेतमें कुछ गहराअीपर धन गड़ा हुआ है। लड़कोंने सारा खेत खोद डाला मगर वह धन न मिला। लेकिन अुस साल फसल अितनी अच्छी आयी कि अुसके सामने गड़ा हुआ माल मिलता तो भी वह नगण्य मालूम होता। गहरी जोताअीका फल मिल गया।

सामान्य लोग विचारक्षेत्रमें जबतक अूपर-अूपरसे ही हल चलाते हैं तबतक सामाजिक जीवन प्राकृत और क्षीण रहता है। जब-जब 'धीर' लोगोंने अुक्त बूढ़ेके लड़कोंकी तरह खूब गहराअीतक खोदा है तब-तब विचार की अपूर्व फसल आयी है। श्रीकृष्णने अेकबार अैसा ही किया था। अुसीसे भारतीय विचारसागरमें अितना ज्वार आया। बुद्ध भगवानने अैसा कोअी भी प्रमाण मान लेने से अिन्कार किया जो आत्मप्रतीतिसे भिन्न हो, जिसके परिणामस्वरूप आर्य संस्कृतिकी ज्ञानाग्निपर जमी हुअी राख अुड़ गयी और आर्य विचार-राशि जगमगा अुठी। फ्रान्सके डिडेरो और दूसरे विश्वकोष-लेखकोंने विचारक्षेत्रको खोदखाद-कर यह देख लिया कि मनुष्य-समाज कौनकौनसे तत्त्वोंपर आधारित है। और तब यूरप में क्रान्ति होकर आम-वर्ग स्वतंत्र हो गया। मार्टिन ल्यूथरने अपने समयकी धर्म-व्यवस्थाको आग में झोंक दिया जिससे समाजधर्मकी गंदगी साफ होकर

स्वाभाविकता प्रतिष्ठित हो गयी। अिस तरह जब मनुष्य अंध-परंपराको फेंक देकर छोटे मोटे हरेक पदार्थसे 'कोऽसि ? तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यम् ?' अैसा सवाल पूछनेकी हिम्मत करता है तब धर्म-संस्करण होता है, जनतामें नया बल आ जाता है, विद्वानोंको नयी दृष्टि प्राप्त होती है और अिस दृष्टिका असर चौदह विद्याओं और चौसठ कलाओं पर पड़ता है।

आज हिन्दुस्तानमें अिसी तरहकी तत्त्वजिज्ञासा, धर्मजागृति और कर्म-विचिकित्सा सुलग अुठी है। प्रत्येक वस्तुका रहस्य हम खोजते हैं, जीवनका परम रहस्य नये सिरेसे जान लेते हैं और अुसे आचरणमें लाना चाहते हैं; नयी समाजव्यवस्था और नयी आचारविधियों द्वारा हम अुसे समाजमें दाखिल कराना चाहते हैं और यह नया प्राण लेकर हम विचारकी दुनियापर शुद्ध व सात्त्विक दिग्विजय प्राप्त करना चाहते हैं।

आज कृष्ण और शंकराचार्य, बुद्ध और महावीर, चैतन्य और नानक, मेसाया और महादी, सभी नये-नये अवतार लेनेवाले हैं, नये स्वरूप धारण करनेवाले हैं, शायद वे अेकरूप भी होंगे, शायद अेक ही व्यक्ति अनेक रूप धारण करेगा; क्योंकि हम विचार-सागरको आन्दोलित करनेकी हिम्मत और कोशिश कर रहे हैं।

२

साहित्यसेवा

मैं साहित्यसेवी नहीं हूँ; साहित्योपासक भी नहीं हूँ। हाँ साहित्यप्रेमी जरूर हूँ। मैंने साहित्यका आस्वाद लिया है। अुसका असर मुझपर हुआ है। मैंने देखा है कि अुत्कृष्ट साहित्य बुद्धिको प्रगल्भ बनाता है, भावोंको सूक्ष्म बनाता है, अनुभवको

धुनकर विशद करता है, धर्मबुद्धिको जागृत करता है, हृदयकी वेदनाको व्यक्त और ओजस्वी बनाता है, सहानुभूतिकी वृद्धि करता है और आनन्दको स्थायी बनाता है। अिस वजहसे साहित्यके प्रति मेरे मनमें आदर है। लेकिन मैंने अपनी निष्ठा साहित्यको समर्पित नहीं की है। साहित्यको मैं अपना अिष्ट देवता नहीं मानता। साहित्यको मैं साधनके तौरपर ही स्वीकार करता हूँ, और वह साधनके तौरपर ही रहे अैसा—अगर आप मुझे माफ़ करें तो कहूँ कि—मैं चाहता भी हूँ। गोस्वामी तुलसीदासजीके मनमें हनुमानजीके प्रति आदर था लेकिन अुनकी निष्ठा तो श्रीरामचन्द्रजीके प्रति ही थी। अिसी तरह मैं चाहता हूँ कि हमारी अुपासना जीवनकी ही हो। साहित्य तो जीवनरूपी प्रभुकी सेवा करनेवाले अनन्यनिष्ठ भक्तके स्थानपर ही शोभा देता है। वह जब अपनी ही अुपासना शुरू करता है तब वह अपना धर्म भूल जाता है। मनुष्य अगर अपने ही सुखका विचार करे, अपनी ही सहूलियतोंकी खोजके पीछे अपनी बुद्धि खर्च कर डाले और अपने ही आनंदमें स्वयं मशगूल हो जाय तो जिस तरह अुसका जीवनविकास अटक जाता है और अुसमें विकृति पैदा होती है, अुसी तरह साहित्यके बारे में भी होता है। जब 'केवल साहित्यके लिये साहित्य' का निर्माण होता है, यानी लोग जब साहित्यकी केवल साहित्यके तौरपर ही अुपासना करते हैं तब शुरूमें तो यह सब खूबसूरत दिखाअी देता है, विशेष आकर्षक लगता है, जब तक अुसकी पूर्व-पुण्याअी खत्म न हो तब तक अैसा भी महसूस होता है कि अुसका बहुत विकास हो रहा है, लेकिन अंदरसे वह निःसत्त्व होता जाता है। साहित्यको अुसका पोषण साहित्यमेंसे नहीं बल्कि जीवनमेंसे, मनुष्यके पुरुषार्थमेंसे मिलना चाहिये। साहित्यमेंसे ही पोषण प्राप्त करनेवाला साहित्य कृत्रिम है, वह हमें आगे नहीं ले जा सकता।

अिस तरहके कुछ कुछ संकुचित या तंग विचार मैं रखता हूँ। अिसलिये 'केवल साहित्य' के अुपासकोंसे मैं डरता हूँ। अुनका देवता अलग है, मेरा देवता अलग। लेकिन साहित्योपासक बहुत अुदार होते हैं। हालाँकि मैं साहित्योपासक नहीं हूँ, फिर भी वह अिस बातको स्वीकार करते हैं कि 'अविधिपूर्वकम्' ही क्यों न हो, लेकिन मैं साहित्यका यजन करता हूँ, और मैं 'श्रद्धयान्वित' हूँ। अतः साहित्यके विषयमें अपने कुछ विचार आप लोगोंके सामने पेश करनेकी धृष्टता मैं कर रहा हूँ। आप सबकी अुदारतापर मुझे विश्वास है।

मनुष्यके विचार, अुसकी कल्पनाअें, भावनाअें, भावुकताअें अथवा भावुकताप्रधान अनुभव दूसरों के सामने परिणामकारक तरीकेसे व्यक्त करनेकी शक्ति जिस वस्तुमें है वह साहित्य है— यह मेरी अपनी साहित्यकी परिभाषा है। मुझे मालूम है कि तार्किक लोग अेक क्षणमें अुसको छिन्नभिन्न कर सकते हैं, लेकिन अपूर्ण मनुष्यकी बनायी हुअी परिभाषाअें अगर अपूर्ण हों तो उसमें आश्चर्य क्या? जिसमें भावोंपर अनायास प्रभाव डालनेकी शक्ति है वह साहित्य है। सांसर्गिकता यानी छूतपन साहित्यका प्रधान गुण है।

यह प्रभाव अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। भावनाअें मनुष्य-जीवनका लगभग सर्वस्व होनेकी वजहसे अुनपर जिस वस्तुका प्रभाव पड़ता है अुस वस्तुकी तरफसे लापरवाह रहनेसे काम नहीं चलता। हवा, पानी, आहार वगैरा शुद्ध रखनेका आग्रह जिस तरह हम रखते हैं या हमें रखना चाहिये अुसीतरह, बल्कि उससे भी ज्यादा आग्रह हमें साहित्यकी शुद्धिके सम्बन्धमें रखना चाहिये। शीलकी तरह साहित्यकी रक्षा जहाँ की जाती है वहाँ जीवन पवित्र, प्रसन्न और पुरुषार्थी होगा ही। अुच्चारण-शुद्धि, हिज्जोंकी शुद्धि, व्याकरणकी शुद्धि आदि प्राथमिक बातोंसे

लेकर साहित्यके प्रत्येक अंग-प्रत्यंगमें शुद्धिका आग्रह होना चाहिये। लेकिन अुसमें कृत्रिमता न आये, बाह्याडंबर न आये, दंभ न आये, कर्मकांड न आये।

निर्व्याज मुग्धता शुद्धिका अेक पहलू है और संस्कारिता दूसरा पहलू। दोनों तरहसे शुद्धिकी रक्षा की जाती है। लेकिन अगर हम शिथिलताके ही हामी बन जायँ और हर तरहकी विकृतिको भी नजरअंदाज करनेको तैयार हो जायँ, अगर सामाजिक जीवनमें सदाचारका और साहित्यमें शुद्धिका थोड़ा भी आग्रह रखनेका जो कोई प्रयत्न करेगा अुसके खिलाफ आवाज बुलन्द करके अुसे चुप करानेकी कोशिश करें तो अुससे समाजका बेहद नुकसान होने वाला है। सामाजिक जीवनमें हो या साहित्यमें, शुद्धि रखने की जिम्मेदारी विशिष्ट श्रेष्ठ वर्गकी ही होती है। पुलिस या अदालतोंके जरिये सामाजिक सदाचारका सर्वोच्च आदर्श नहीं टिक सकता। साहित्यकी भी यही हालत है। समाजके स्वाभाविक अगुआ जब शिथिल हो जाते हैं, डरपोक बन जाते हैं अथवा अुदासीन हो जाते हैं तब समाजको बचानेवाली कोअी भी शक्ति नहीं रहती।

साहित्यकी प्रवृत्ति हमेशा समाजसेवाके लिये ही होती हो सो बात नहीं। मानसिक आनन्द, सन्तोष, झुंझलाहट या व्यथाको प्रकट करनेकी, शब्दबद्ध करनेकी जो सहजप्रवृत्ति मनुष्यमें है अुसमेंसे साहित्यका अुद्गम होता है। संगीतकी तरह साहित्यका आनन्द भी मनुष्य अकेले-अकेले ले सकता है, फिर भी तमाम वाग्व्यापार सामाजिक जीवनके लिये ही हैं। साहित्यकी प्रवृत्ति प्रधानतया अपने भावप्रधान मनन अथवा अुद्गारोंको दूसरेमें संक्रान्त करनेकी अिच्छासे हुआ करती है। अिसलिये यह कहा जा सकता है कि साहित्य प्रधानतया सामाजिक वस्तु है। जीवनकी सभी अच्छी चीजोंकी तरह सच्चा साहित्य आत्मनेपदी

भी होता है और परस्मैपदी भी। मनुष्यके सर्वोच्च सद्गुण अुसके सामाजिक जीवनमेंसे पैदा होते हैं। और तो और, अनन्यनिरपेक्ष मोक्षेच्छा भी सबोंके साथ आत्मौपम्य अनुभव करनेके लिये ही है, यानी अुसका प्रारंभ और अन्त सामाजिक जीवनकी कृतार्थताके साथ ही है। साहित्यके बारेमें भी अैसा ही कहा जा सकता है। जिस तरह गायनके साथ तंबूरेकी आवाज़ तान लिया ही करती है अुस तरह साहित्यके तमाम विस्तारमें जनहितका, लोक कल्याणका सूर कायम रहना ही चाहिये। जो कुछ अिससे विसंवादी होगा वह संगीत नहीं बल्कि मानसिक कोलाहल है। वह साहित्य नहीं बल्कि मानसिक जहर है।

अेकबार हिन्दुस्तानके अैतिहासिक पुरुषोंकी सूचीमें मैंने श्रीमद्भगवद्गीताका नाम भी जोड़ दिया था। 'जिसके व्यक्तित्वकी छाप समाजपर अलग-अलग समयपर अलग-अलग ढंगसे पड़ती है और अिसलिये जिसके चिरंजीवीपनका अनुभव हमेशा होता रहता है वह है व्यक्ति अथवा पुरुष' अैसी परिभाषा की जाय तो हम यह मान सकते हैं कि भगवद्गीताको राष्ट्रपुरुष कहनेमें औचित्यका कोअी भंग नहीं है। साहित्यके बारेमें भी यही बात है। अेक या अन्य प्रकारसे सामर्थ्य प्रकट करनेवाले व्यक्तिका हृदयसर्वस्व होनेके कारण व्यक्तिके प्रभावकी तरह अुस व्यक्तिके साहित्यका भी प्रभाव हुआ करता है। प्रभु, मित्र या कान्ताके साथ साहित्यकी तुलना करनेवाले साहित्याचार्योंने यही बात दूसरे ढंगसे कही है। 'प्रभु' की जगह आज हम 'गुरु' शब्दको अधिक पसन्द करते हैं। गुरु, मित्र और जीवनसहचरी तीनों संबन्ध पवित्र हैं, अुदात्त हैं। साहित्यका विरुद अैसा ही होना चाहिये। सामाजिक व्यवहारमें हम चाहे जिस आदमीको घरमें घुसने नहीं देते। चोर, शठ, पिशुन या भुजंगकी श्रेणीके लोगोंको हम देहलीजके अन्दर पैर नहीं रखने देते।

साहित्यके अूपर भी हमारी अैसी ही चौकी होनी चाहिये। अपवित्र मनुष्य चाहे जितना शिष्टाचारी क्यों न हो, अुसे जिस तरह हम अपने बालबच्चोंके साथ बगैर किसी रोकटोकके मिलने-जुलने नहीं देते अुसी तरह पापाचरणको अुत्तेजन देनेवाले साहित्यको भी हमें अपने घर में घुसने नहीं देना चाहिये। घरसे बाहरके व्यवहारमें जहां सभी क़िस्मके लोगोंके साथ सम्बन्ध आता है वहां अच्छी और खराब बातोंको परखनेकी कला जिस तरह हम अपने बालकों को प्रदान करते हैं और ज्यादती करनेवाले मनुष्यको दूर रखनेको सिखाते हैं अुसी तरह साहित्यमें भी दुष्ट साहित्यके हावभावोंमें न फँसकर अुसे दूर रखनेकी कला हमें अपने बालकोंको सिखानी चाहिये।

लेकिन मैं जानता हूं कि आजकी हवा अिस तरहकी नहीं है। शिष्टाचारकी पुरानी बाड़ें तोड़नेका ही प्रयत्न हमने शुरू किया है। अुनके स्थानपर नये आदर्शकी नयी मर्यादाअें तैयार करनेकी बात हमें नहीं सूझी है। कृत्रिम या यांत्रिक बाड़ोंकी हिमायत मैं भी नहीं करता। लेकिन समाजहृदयमें कुछ न कुछ आदर्श तो होना ही चाहिये और अुस आदर्श की रक्षा करनेका आग्रह रखनेवाले समाजधुरीण भी चाहिये। वे अगर अपना यह स्वभावसिद्ध कुलव्रत छोड़ दें तो संस्कृति कैसे टिक सकेगी? संस्कृति तो अँगीठीकी आगकी तरह जबतक हवा चलती है तभी तक टिकनेवाली चीज है। पुरुषार्थ और जागृतिकी चौकीके बिना अेक भी संस्कृति नहीं बची है। संस्कृतिको प्रकृतिके अूपर नहीं छोड़ा जा सकता। लेकिन आज तो अैसा लगता है कि मानो हम सामाजिक अराजकता ही पसन्द करते हैं। यह तो साफ जाहिर है कि पुरानी व्यवस्था अब नहीं टिक सकती, न टिकनी भी चाहिये। लेकिन पुरानेकी जगह नयी व्यवस्था रचनेके लिये आवश्यक प्राणबल हमारे समाजमें होना चाहिये। क़ानूनके

अंकुशकी बात मैं नहीं करता। मैं तो अैसा ही मानता हूं कि साहित्यपर कानूनका अंकुश कमसे कम होना चाहिये। सदाचारकी सर्वोच्च कोटिका विचार करके कानून नहीं चलता। कानूनकी आंखें स्थूल होती हैं, जड़ होती हैं और अुसके अुपाय असंस्कारी होते हैं। साहित्य पर अंकुश होना चाहिये लोकमतका। लोकमतका के मानी हैं संस्कारी, अुदार, चारित्र्यवत्सल समाजधुरीणोंका। अैसा कुछ करने के लिये आजका समाज तैयार नहीं है यह मुझे मालूम न हो सो बात नहीं। लेकिन यह कहना ही पड़ेगा कि अिससे समाज अपना ही नुकसान कर लेता है। 'नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्' अिस दलील की आड़ में हम सारी मर्यादाओंका छेद अुड़ाना तो नहीं चाहते?

साहित्य है कलाका ही अेक विभाग। अिसलिये कलाके नियम अिसपर भी लागू किये जाते हैं। कलाके लिये ही कला है, कला कभी भी किसी बाह्य वस्तुके अंकुशको स्वीकार नहीं करेगी—अैसा कहनेवाले केवल-कलावादी लोग नीतिके अंकुशका हमेशा मजाक अुड़ाते आये हैं। 'स्वात्मनि अेव समाप्त महिमा' अिस तरहकी यह कला देखते-देखते निरर्गल, स्वार्थी बन जाती है। और स्वार्थके साथ सत्य कब टिका है? Art for Art's sake (कला कलाके लिये) की परिणति Art for the Artist's sake (कला कलाकारके लिये) में हो जाती है।

मेरा यह आग्रह नहीं है कि कलाको नीतिका अंकुश स्वीकारना ही चाहिये। लेकिन अिसका कारण अलग है। साहित्यके पास अुसका अपना गांभीर्य, अपनी प्रसन्नता और पवित्रता क्यों न हो? हास्य-विनोद अिन तीनोंका विरोधी तो नहीं है। अितना ही नहीं बल्कि वह अिन तीनोंको अुच्च कोटिको पहुंचाकर दिखाता है। अगर साहित्य स्वधर्मका पालन करे तो अुसे नीतिका अंकुश स्वीकारना न पड़ेगा। साहित्य जब हीन अभिरुचिके या कला-

शत्रु विलासिताके शराबखानेमें जा पड़ता है तब नीतिको लाचार होकर अुसे वहांसे अुठाकर घर लाना पड़ता है। स्वराज्यमें या सुराज्यमें सदाचारी और स्वयंशासित नागरिकोंको नगर-रक्षकोंसे डरनेका कोअी कारण नहीं रहता।

लेकिन कला और साहित्य अेक ही वस्तु नहीं हैं। सुन्दरता साहित्यका भूषण है न कि सर्वस्व। साहित्यका सर्वस्व, साहित्यका प्राण ओजस्विता है, विक्रमशीलता है, सत्त्ववृद्धि है। जीवनके विविध क्षेत्रोंमें पौरुषकी वृद्धि करनेमें ही साहित्यकी अुन्नति रही है।

क्या विषय-सेवन समाजमें अितना क्षीण हो गया है कि विलास-प्रेरक साहित्यके द्वारा अुसे अुत्तेजन देनेकी आवश्यकता अुत्पन्न हुअी है? समाजकी तरह साहित्यको भी देहधारीके नियमोंके वश होकर अुच्च-नीच स्थितियां भुगतनी पड़ती हैं। जब समाजका सम्पूर्ण अुत्कर्ष हो चुका हो, अुसके कारण आनेवाली समृद्धि भी थक गयी हो, तब भले ही समाज विलासितामें डूबकर सर्वस्व खोनेको तैयार हो जाय; लेकिन जब पतित समाज मानवजातिपर आनेवाली सभी आपत्तियोंका दुर्दैवी संग्रहस्थान बन गया हो, करोड़ों लोग भूखसे या निराशासे तड़पते हों, पुरुषार्थका जहां तहां भाटा ही दिखाअी देता हो और बरसातके दिनोंकी काली रातकी तरह चारों ओर अज्ञान फैला हुआ हो, असे वक्तपर तो हृदयकी दुर्बलता बढ़ानेवाला, नामर्द वासनाओंको खूबसूरत करके दिखानेवाला और अनेक हीन वृत्तियोंका बचाव या तरफ़दारी करनेवाला हत्यारा साहित्य हम पैदा न करें। चढ़नेसे पहले ही पड़नेकी तैयारी कैसी?

सिंहासनबत्तीसी और वेतालपच्चीसीके वातावरणसे हम अभी कहीं बाहर निकले हैं, तो फिर अुसी वातावरणका सुधरा हुआ और आडंबरपूर्ण संस्करण निकालकर क्या हम चढ़ सकते हैं?

दुर्गुणका कलेवर भले ही सुन्दर हो, अुसकी पोशाक भले ही प्रतिष्ठित हो, अुतने भरसे वह कम घातक साबित नहीं होता; बल्कि वह ज्यादा खतरनाक हो जाता है।

अपनी समाज-व्यवस्थाकी सुन्दरताका हम चाहे जितना बखान करें, मगर अुसमें आज अेक त्रुटि स्पष्ट दिखाअी देती है। अेक जमाना था जब हम सब संस्कृतमें ही लिखते थे। अिसलिये हमारे प्रौढ और ललित विचार सामान्य समाजके लिये दुष्प्राप्य थे। लेकिन अुस वक्त संत-कवि और कथा-कीर्तनकार वह सारा कीमती माल अपनी शक्ति के अनुसार स्वभाषाकी फुटकर दूकानोंमें सस्ते दाम बेचते थे। मुगल-कालमें अुर्दूकी प्रतिष्ठा बढ़ी और अरबी, फारसी भाषाओंसे कवियोंको प्रेरणा मिलने लगी। अंग्रेजी जमाना शुरू हुआ और अपनी सारी मानसिक खूराक अंग्रेजीसे लेनेकी हमें आदत पड़ गयी। अुसका अच्छा और बुरा दोनों तरहका असर हमारी मनोरचनापर पड़ा है; साहित्यपर तो पड़ा ही है। आजकलके हमारे अखबार और मासिकपत्रिकाअें नये जमानेके विचार फुटकर भावसे बेचनेका काम करने लगी हैं। लेकिन अिन तीनों युगोंमें गरीब श्रेणीके लोगोंके लिये, देहातियों और मजदूरोंके लिये, स्त्रियों और बालकोंके लिये विशेष प्रयास नहीं हुआ है। अशिक्षित समाजमें भी अुनका सामाजिक प्राण बहुत कुछ साहित्यका निर्माण करता है। हमारे संस्कारी देशमें साधुसन्तोंकी कृपासे अुसमें कुछ वृद्धि हुअी हो तो अिससे आश्चर्यान्वित होनेका कोअी कारण नहीं। लेकिन ज्यादातर मध्यम श्रेणीका ही विचार हम हमेशा करते आये हैं। हम यह भूल गये हैं कि गरीब लोगोंका जीवन सन्तोषमय, आशामय और संस्कारमय करना हमारा धार्मिक कर्तव्य है। कुछ अिनीगिनी कहानियोंको छोड़ दें तो हमारी कहानियों और अुपन्यासोंमें गरीबोंके करुण काव्यमय जीवनका विचार

भी नहीं होता। पुराणकारोंने जिस तरह अमृत, अप्सरा और ओीर्ष्यासे भरे हुए स्वर्गकी कल्पना की, अुस तरह आजकलके अुपन्यासकार अैसेही किसी वेकार आदमीकी कल्पना करते हैं जो वकील-बैरिस्टर हुआ हो, जिसने विलायतका सफर किया हो या वसीयतनामेसे जिसको खूब पैसा मिला हो और अुसके 'आत्मनि संतुष्ट' निरर्थक जीवनका सविस्तार वर्णन करते हैं। जातिभेद हमारे मनोरथोंमें भी अितना भरा हुआ है कि मध्य श्रेणीके बाहरकी दुनियाको हम नहीं देख सकते। बिलकुल गरीब लोगोंका जीवन हमें दयापात्र किन्तु रहस्यशून्य लगता है। ओीसपके अुस बारहसींगेकी तरह हम सिरपरके सींगोंके गरूरमें अपने पतले पैरोंका तिरस्कार करने लगे हैं, या तिरस्कार करने जितना भी ध्यान हम अुनकी तरफ नहीं देते। कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तका आश्रय लेकर हम अपने अनाथद्रोहको ढँक लेते हैं, अनाथोंकी सेवा तो दूर रही, अुनका स्मरण तक हम नहीं करते। अंग्रेज कवि हूडके Song of the Shirt (कमीजका गीत) की बराबरी कर सके अैसा मौलिक काव्य क्या किसीने लिखा है? ओीसपके अुस बारहसींगेकी जो हालत अन्तमें हुओी वही हालत हमारी हमेशा होती आयी है। और अब तो विनाशकी घटाअें सिरपर मंडरा रही हैं। हमारा लोकप्रिय साहित्य हमारी सामाजिक स्थितिका सूचन करता है। जो कुछ दिलमें होगा वही होठोंपर आयेगा न? गरीबोंकी मुश्किलें कौन-कौनसी हैं, अुनका दर्द-दुःख क्या है, अुनके सवाल कितने पेचीदा और विशाल हैं अिन सब बातों पर जिम्मेदारीके साथ विचार करके असली सवाल हल कर सके अैसी योजना जब होगी तभी गरीबोंके दिलोंमें कुछ आशा पैदा होगी न? जिसकी हम अैरन चुराते हैं अुसीको अगर दानमें छोटीसी सूओी देते हों तो उसे लेते समय लेनेवालेके दिलमें कैसी भावना अुत्पन्न होगी? हमारा

साहित्य अगर हमें अपना युगधर्म न बताये और अुस धर्मका पालन करनेकी प्रेरणा हमें न दे तो वह अन्य सब प्रकारसे सरस होते हुअे भी अुसे विफल ही कहना चाहिये।

गरीबोंको बाहर रखनेके लिये जिस तरह हम किवाड़ बन्द करके खाना खाते हैं और पंक्तिभेद का प्रपंच रचते हैं अुसी तरह हमने साहित्यकी विशिष्ट कठिन शैलियोंको अपनाकर ज्ञान-की प्याअू में जातिभेद पैदा किया है। अुदात्त, अुन्नत विचार आम जनताको जिस आसानीसे मिलने चाहिये वह नहीं मिल सकते। हमारे साधुसन्तोंने गरीबीका व्रत ले लिया था, अिसी लिये वे गरीबोंकी सेवा कर सके और गरीबोंके लिये प्राणपूर्ण साहित्य लिख सके। हिन्दुस्तानकी सबसे बड़ी ताक़त अुसकी जन-संख्या है। लेकिन हमने गरीबोंका द्रोह करके अिसी बलको भाररूप बना दिया है। जबतक हम गरीबोंके लिये साहित्य न लिखेंगे, हजारों की तादाद में बाहर निकलकर गरीबोंको हमारा अितिहास और आजकी हमारी स्थिति, हमारा काव्य और हमारा धर्म तथा अुसकी खूबियां न समझाअेंगे, अपने जीवन पर जमी हुअी राख हटाकर अुसे प्रदीप्त करने की प्रेरणा न देंगे तब तक हमारा साहित्य पांडुरोगी ही रहेगा।

साहित्यकी अुन्नतिके लिये तैयार होनेवाली योजनाओं में कोष और सन्दर्भग्रन्थ, अितिहास और विवेचन, पाठ्यपुस्तकें और प्रमाणग्रन्थ, परिषदें और समितियां—बहुत कुछ बातें होती हैं। वह सब छोड़कर साहित्यके अुद्धारके लिये गरीब जनताकी सेवा करने की सूचना मैं कर रहा हूं यह देखकर कुछ लोगोंको अैसा लगेगा कि मैं साहित्य-मंडलको समाजसुधार-परिषद् समझनेकी भूल करके बातें कर रहा हूं। मुझपर यह अिलजाम भले ही लगाया जाय लेकिन मैं तो निश्चित रूपसे यह मानता हूं कि पेड़ को जिस तरह प्रधानतया जमीनमें से ही पोषण मिलता है,

अुस तरह साहित्यका पोषण समाजमें ही है। मानवता और धर्मनिष्ठा में से ही हमारा साहित्य समृद्ध होनेवाला है अिसमें मुझे तनिक भी शक नहीं है।

अुल्लिखित आजकलकी योजनाओंको मैं नीचा दिखाना नहीं चाहता। अुनमें यथा-शक्ति भाग भी लेना चाहता हूं। लेकिन असली वातको भूल जानेसे काम न चलेगा।

जहां पुरुपार्थ की कमी हो जाती है और जीवनमें शिथिलता आ जाती है वहां साहित्यके वारेमें अल्पसन्तोष और रसिकताका छिछलापन स्वाभाविक रूपसे आ जाता है। आज हम महाकाव्य नहीं लिख सकते, हमारी प्रतिभा चौदह पंक्तियां किसी तरह पूरी करनेसे पहले ही सूख जाती है—अिस तरहकी आलोचना मैं नहीं करना चाहता। काव्यकी लम्बाओ-चौड़ाओपर मैं अधिक जोर देना नहीं चाहता। लेकिन हमारे काव्यविषय अुत्तुंग अथवा गंभीर नहीं हुआ करते, हमारे काव्यविवेचन सर्वकप और अुत्कट नहीं हुआ करते अैसी आलोचना मैं जरूर करूँगा।

साहित्य तो ज्यादातर व्यक्तिगत प्रयास ही है। वह जब तक गंभीर और दीर्घ अुद्योगके परिणामरूप न होगा तव तक छिछला ही रहेगा। अीश्वरने असाधारण प्रतिभा प्रदान की हो तो भी वह शक्ति बीजरूप ही होगी। मनुष्यको कमसे कम मालीका काम तो अीमानदारीके साथ करना ही चाहिये। साहित्यमें सहयोग के साथ काम किये विना भी न चलेगा। सहयोगके लिये जो सद्गुण आवश्यक हैं अुन्हें अपनेमें लाये विना अब एक कदम भी आगे वढ़ना मुश्किल है! सिद्धान्तका आग्रह, स्वभाव-भेदको नजरअन्दाज करनेकी शक्ति, तफसीलमें अुतरनेकी कुशलता और अेक ही संकल्पसे लम्बे अरसे तक चिपके रहनेकी दृढ़ता—अिन सामाजिक सद्गुणोंका विकास अगर हम न करेंगे तो हमारे हाथों कुछ विशेष साहित्यसेवा हो ही न सकेगी।

यह तो हुआी साहित्यकी सेवा। किन्तु सच्चे साहित्यका निर्माण तो जनताके पुरुषार्थका ही फल है। 'कारभार (कारोबार) में दखल देनेकी अिजाजत न होगी तो करभार भी नहीं दिया जा सकता।' अिस जगविख्यात सूत्रके पीछे सिर्फ भाषासौष्ठव या अनुप्रासकी लज्जत नहीं है। अुसमें लज्जतकी अपेक्षा अमेरिकन जनताका पुरुषार्थ ही प्रमुख वस्तु है। साहित्यकी अुन्नति जनताकी अुन्नतिके साथ ही होती है। आपके जिलेके किसानोंने गुजराती भाषामें जो वृद्धि की है वह अपनी दो-चार परिषदें भी न कर सकेंगी। 'हमने वल्लभभाअीके हाथों अपना सिर सौंपा है न कि नाक।' अिस वचनपर गुजराती जनताको हमेशा नाज़ रहेगा। 'हमारे खर्चेसे बन्दूकें और तोपें रखते हैं मगर कभी दिखाते भी नहीं। हमारे बालबच्चोंको बन्दूकों और तोपोंका मजा चखवायेंगे तो हमारी औलाद तो सुधरेगी।' यह अेक ही वाक्य गुजराती भाषाको वीर्यशाली बनानेके लिये काफ़ी है। साबरमतीके किनारे गांधीजीने और बारडोली के खेतोंमें वल्लभभाअीने जिस भाषाको गढ़ा है वह भाषा अपनी स्वाभाविकतासे ही धीरोदात्त और प्रौढ़ बनी है। साहित्य तो जनताके पराक्रमका प्रसाद है। बूढ़ा मिशनरी टेलर हमसे कह गया है, 'यथा भाषकस्तथा भाषा'। साहित्यकी अुन्नति करनी हो तो अपने जीवनको अुन्नत करो। साहित्य जीवनकी छाया है, जीवनकी सुगंध है।

३

साहित्योपासना

कोअी परीक्षामें पास हो जाय, किसीके घर लड़का पैदा हो, किसीका बिछुड़ा हुआ भाअी फिरसे मिल जाय, या किसीको

ता० १९-६-२८ को सूरत-साहित्य-मंडलके वार्षिक उत्सव के अवसरपर दिया हुआ भाषण।

लाटरीमें अिनाम मिल जाय तो अुस खबरका तार लानेवालेको वह कुछ न कुछ अिनाम देता है। मालिक को तारका महत्व जितना अधिक होगा अुतनी मात्रामें तार लानेवालेके विषयमें अेक प्रकारकी अुपकार-बुद्धिसी अुसके मनमें रहती है। और अिसलिये अच्छा-सा अिनाम देकर अिस अुपकारकी पूर्ति करने-की कोशिश करता है। असलमें देखा जाय तो तार लानेवालेका अुपकार कैसा ? तारका मजमून बनानेमें अुसका हिस्सा थोड़ा ही हुआ करता है ? मनिआर्डर या पारसल लानेवाले डाकियेकी हालत भी अैसी ही है।

फिर भी आनन्दमूढ़ होना मनुष्यका स्वभाव है। लेकिन अिस मनुष्यस्वभावके कारण अिनाममें मिला हुआ पैसा जेबमें डालनेवाला डाकिया अगर अपनी ही बड़ाअी महसूस करने लग जाय तो अुसके जैसा मूरख वही है।

अध्यापककी कुर्सीपर बैठकर विद्यार्थियोंके सामने सुन्दर साहित्य परोसनेका काम जो लोग करते हैं अुनके प्रति भी अिसी तरहकी कृतज्ञताबुद्धि विद्यार्थियोंके मनमें रहा करती है। साहित्य-क्षेत्रमें अच्छे-अच्छे फल चुननेमें अध्यापककी कुशलता, सदभिरुचि और विद्यार्थीका कल्याण समझनेकी सद्‌बुद्धि-अिन सब बातोंको महत्त्व है अिसमें कोअी शक नहीं। लेकिन अगर अध्यापक अैसा गर्व करेगा कि अुन परिपक्व साहित्यफलोंको मानो अुसीने जन्म दिया है, तो अुसका वैसा करना हास्यास्पद होगा।

अैसा मानना, कि हमें जिस वस्तुसे आनन्द हुआ अुसी वस्तुका हमारे कहनेसे-आस्वाद लेकर दूसरा आदमी अुतना ही आनंदित हो जाय तो वैसा करके अुसने हमारे आनन्दको दुगुना बनानेमें मदद दी-यह अुसीका हमारे अूपर अुपकार है, शायद ठीक होगा।

जो हो, दुनियाकी तरफ देखनेकी दृष्टि और जीवनको अन्तत

बनानेका मार्ग जिस साहित्यमें विशद और सुभग ढंगसे व्यक्त हुआ हो वह साहित्य सिर्फ़ पढ़कर रहने देनेके लिये नहीं है; बल्कि अमृतमय रसायनकी तरह अुसका विधिपुरःसर आदर-युक्त सेवन करना पड़ता है। परन्तु जो अेक बार साहित्योपजीवी बन जाता है अुसे घी या खीर परोसनेकी दर्वी (चमची) की तरह सिर्फ परोसनेका आनन्द लेकर ही बैठे रहनेकी आदत पड़ जाती है। और वह अिसी बातका विचार करता रहता है कि वह मिठाई किस तरह लोगोंके सामने परोसनेसे परोसनेवालेको मिलनेवाली वाह-वाही अुसे मिले। यह दर्वीव्रत निष्काम हो या सकाम, जीवन को उन्नत करनेवाला तो हरगिज़ नहीं है।

साहित्य—अुच्च साहित्य—असलमें देखा जाय तो हृदयमें आभिजात्य अुत्पन्न करनेका और जीवनको अुन्नत बनानेका अेक साधन-मात्र है। साहित्यका केवल प्रचार करनेकी अपेक्षा अुसे हजम करके, अपना जीवन अुन्नत करके, सेवाद्वारा अुस जीवन की सुगन्धि फैलाकर समाजको और अपनेको कृतार्थ बनाना चाहिये। अैसी सेवा करते-करते हमको भी किसी दिन सरस्वती वैखरीका अुपयोग करनेका मौका मिल जाता है और हमारे हाथसे या मुखसे प्रसन्न साहित्यका निर्माण होता है। अिस ढंगसे होनेवाले साहित्यका प्रचार अपरिहार्य, सहज और शुभ-परिणामकारी होता है।

अच्छा साहित्य देखकर मनमें सिर्फ परोसनेवाले की वृत्ति जागृत नहीं होनी चाहिये, बल्कि 'अिष्टैः सह भुज्यतां' की प्राचीन आज्ञाके अनुसार या सामाजिक मनोवृत्तिसे अुसका सेवन करके अिष्टमित्रोंके साथ अपना जीवन अुन्नत और परिपुष्ट करने की तरफ़ ही हमारा झुकाव होना चाहिये।

यहां तक किये हुअे विवेचनमें कोअी असाधारण बात कही हो सो बात नहीं। लेकिन परोसनेकी वृत्तिका दोष आजकलके

अध्यापक, लेखक, प्रचारक, कवि और पत्रकार सबमें बहुत बढ़ गया है और अिसलिये साहित्यका सेवन करके साधना द्वारा अुसे हज़म करके जीवन को अुन्नत बनानेकी ओर अितनी लापरवाही होने लगी है कि अक्लमंद लोगोंको भी यह छोटीसी सूचना करने की जरूरत पैदा हो गयी है।

कोअी भी ग्रंथ पढ़ते वक्त ग्रंथकारकी वृत्ति और दृष्टिके साथ तदाकार होकर पढ़ना चाहिये। लेकिन ग्रन्थके बारेमें कभी प्रामाण्यबुद्धि अुत्पन्न नहीं होने देना चाहिये। ज्ञान चाहे जहांसे, चाहे जैसा मिले तो भी तारतम्य बुद्धि तो अपनी ही होनी चाहिये। प्रत्येक ग्रन्थका कालिक, देशिक और वैयक्तिक (व्यक्तिगत) संस्करण करना ही पड़ता है। यह जो कर सकता है अुसीका वाचन सफल और कृतार्थ होता है।

— हिंडलगा जेल, १९३२

४

साहित्यकी आजकी अेक कसौटी

संस्कारी लोगोंका पक्ष लेकर राजा भर्तृहरिने साहित्य, संगीत और कलासे विहीन लोगोंको बे-सींग-और-पूंछके पशु कहा है। यह लिखते समय भर्तृहरिके मनमें साहित्यके बारेमें कितना अूँचा खयाल होगा! आजकी प्रथाके अनुसार अगर हमने अुस साहित्य-स्वामीसे पूछा होता कि 'आपकी साहित्य की परिभाषा क्या है?' तो तुरन्त अेक वाक्यमें अुसने कह दिया होता, 'नरपशुको जो पुरुषोत्तम बना सकता है वह साहित्य है।' भर्तृहरिका 'अेकान्ततो निःस्पृह' पंडित न लोभ या कीर्तिसे ललचायेगा, न राजा से भी डरेगा। अैसे ही मनुष्योंको हम साहित्यवीर कह सकते हैं।

साहित्य दैवी शक्ति है। अिस शक्तिके बलपर निर्धन मनुष्य भी लोकप्रभु बन सकता है और महान् सम्राट भी राजदंडसे जो कुछ नहीं कर सकते अुसे शब्दशक्ति द्वारा आसानीसे साधता है। राजाको तनख्वाह देकर अपने यहां 'प्राणत्राणप्रवण-मति' हृदयशून्य सिपाही रखने पड़ते हैं। लेकिन साहित्यसम्राटके पास सहृदय सज्जनोंकी स्वयंसेवी फौज हमेशा तैयार रहती है। सच्चा साहित्यवीर यह नहीं कह सकता कि फलां चीज मेरे लिये 'अशक्य' है। साहित्यकी दीक्षा लेनेके बाद अुसे तो प्रत्येक न्याय्य और धर्म्य कार्य अपना ही समझना चाहिये। सुखी लोग फुरसत-के वक्त समय बितानेके लिये कुछ अच्छासा साहित्य पढ़ना चाहते हैं। अुसकी पूर्ति करनेसे और भाषा सौन्दर्यके नये-नये प्रकार अुत्पन्न करनेसे साहित्यकी सेवा हो गयी, अैसा कोअी न माने। लोगोंमें अुत्साह पैदा करना, लोगों की शुभवृत्तिको जागृत करना, और सरस्वतीके प्रसादसे लोगोंका धर्मतेज प्रज्वलित करना साहित्यकारका काम है। सिर्फ जनरंजन करना, लोगोंमें जो-जो वृत्तियां अुत्पन्न होंगी अुन सबके लिये पर्याप्त आहार दे देना साहित्यकारका धंधा नहीं है। 'अैसे लोगोंमें मैं नहीं हूँ'—कहकर भर्तृहरिने गाया था:—

'न नटा न विटा न गायका न परद्रोह-निबद्ध-बुद्धयः' अित्यादि।

सौन्दर्यके साथ अगर शील हो तभी वह शोभा देता है, साहित्यके साथ सात्विक तेज हो तभी वह भी कृतार्थ होता है।

हमारे ज़मानेमें मानवताकी कसौटी करनेवाला अेक बड़ा सवाल हमारे सामने खड़ा है प्रत्येक मनुष्यको वह कसता है—राजसेवकको तथा जनसेवकको, धर्माधिकारियोंको तथा अर्थाधि-कारियोंको, हिन्दुओंको तथा औरोंको। जिस तरह खेतोंमें, हमारी धारणाओंमें अस्पृश्यता घुस गयी है, वह जबतक जड़मूलसे निकल न जायेगी तबतक हमको शान्ति मिलनेवाली नहीं है।

राजनैतिक पुरुष कमर कसकर अुसके पीछे पड़े हैं। सामाजिक रूढ़ियोंके विषयं में अुदासीन रहनेवाले हमारे साधुसन्तोंने अिस अस्पृश्यताको बदनाम करनेके लिये अपनी प्रासादिक वाणीका प्रयोग किया है। महाराष्ट्रमें वैश्योंमें तुकाराम, और ब्राह्मणोंमें गृहस्थाश्रमी अेकनाथ और ब्रह्मचारी रामदास अस्पृश्यताको बर्दाश्त न कर सकते थे। गुजरातमें ज्ञानी संत अखो और भक्तशिरोमणि नरसैंया अस्पृश्यता को दूर करनेके लिये धर्मवीरकी तरह लड़े हैं। आजके जमानेमें श्रद्धामूर्ति श्रद्धानन्दजीका बलिदान भी अिसीलिये हुआ है। साहित्य-वीरोंको भी आज अपनी शक्ति—शक्तिसर्वस्व—अिसी धर्मकार्यमें लगानी चाहिये। अस्पृश्यतानिवारण हमारा युगधर्म है। अिससे पहले कि हम मर जायँ, अस्पृश्यता मर ही जानी चाहिये। वरना सनातन धर्मके भी टिकने की आशा नहीं है।

अब देखना है कि आजका साहित्य अिस अेक वीरकर्मकी सफलता के लिये क्या-क्या करनेको तैयार है।

—सन् १६२६

५

आह्नो साहित्यकार

अिस विशाल विश्वमें हमारे लिये जीवनसे श्रेष्ठ कोअी भी वस्तु नहीं है। हम जो कुछ देखते या सुनते हैं, जो कुछ हमारे मनमें या अनुभवमें आता है वह सब जीवनके क्षेत्रमें आ ही जाता है। कल्पना-सृष्टि और आदर्श-सृष्टि भी जीवन-जगतके दो खंड ही हैं और अज्ञात अनन्त तो जीवन-जगतका क्षितिज कहा जा सकता है।

और मरणको क्या हम जीवनक्षेत्रके बाहरका समझेंगे?

नहीं, हरगिज़ नहीं। मरण भी जीवन हीकी अेक अुत्कृष्ट विभूति है। जीवनमें जो कुछ अपूर्ण रह जाता है वह मरणमें पूर्ण और कृतार्थ होता है। मरण के बारेमें हम ज़रूर कह सकते हैं:—

येथें नाहीं झाली कोणाची निरास। आल्या याचकास कृपेविशीं॥

(यहां तो चाहे जो याचक आ जाय, अुसके कभी निराशा नहीं हुआ करती। सबके अूपर अुसकी अेकसी ही कृपा रहती है।)

दिन और रात मिलकर जिस तरह पूरा दिन एक होता है अुसी तरह जीवन और मृत्यु दोनों मिलकर सम्पूर्ण जीवन होता है। दिनके वक्त सर्वत्र सफ़ेद अँधेरा फैला होता है और अिसलिये हम सिर्फ़ अेक सूर्य और अेक पृथ्वी तक ही देख सकते हैं। रातके वक्त काला निर्मल प्रकाश चारों ओर फैल जाता है जिससे आकाश खुला हुआ दिखाई देता है, विस्तृत मालूम होता है, अुस प्रकाशमें हम अनेक पृथ्वियाँ और अनन्त सूर्य देख सकते हैं। रात्रिका वैभव दिनके वैभवकी अपेक्षा कअी गुना अधिक होता है और अिसीलिये अनन्त सूर्योंके दर्शन अेक साथ होते हुअे भी हमें अुनमेंसे किसीका भी ताप सहना नहीं पड़ता। अनन्त कोटि सूर्य अेकत्र चमकते हैं, फिर भी वह हमें शान्ति ही प्रदान करते हैं!

जिस तरह मनुष्य अपने बचपनमें स्कूलमें बहुतसे सबक सीखता है और बड़ा होनेपर व्यापक जीवनमें अुन्हें अुपयोगमें लाता है या प्रयोगशालामें छोटे-छोटे प्रयोग करके बादमें लोक-व्यवहारमें अुन प्रयोगोंका विस्तार करता है, अुसी तरह हम अपनी सारी आयुमें जो व्यक्तित्व और अध्यात्म आत्मसात् करते हैं अुसीको मरणके द्वारा व्यापक और बृहत्तम बनाते हैं। अिसी-लिये अैसा कहा जाता है कि मरण तो जीवनका नया और अुत्कृष्ट संस्करण है। जीवन और मरण मिलकर जो अेक

बृहत्तम वस्तु बनती है अुसीको ब्रह्म कहा जाता है। अुससे अलग कुछ भी नहीं; अुससे अुच्च कुछ भी नहीं। अनन्तसे अधिक अुच्च क्या हो सकता है? अनन्तकी ओर देखनेके पहलू अनन्त होते हैं, लेकिन मूल वस्तु तो 'अेकमेवाद्वितीयम्' ही है।

ॐकार प्रणव जिस तरह परब्रह्मका वाचक है अुसी तरह साहित्य भी जीवनका—सम्पूर्ण जीवनका—वाचक हो सकता है। अितनी बड़ी प्रतिष्ठा साहित्यकी है। लेकिन अुसकी साधना अत्यन्त सावधानीसे, अुचित ढंगसे होनी चाहिये। जिस तरह मूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा करनेके बाद ही अुसे देवत्व प्राप्त होता है, अुसी तरह साहित्यकी प्राणप्रतिष्ठा करनेके बाद ही अुसे प्रणव-पूज्यता और वाचाशक्ति प्राप्त होती है। प्राणप्रतिष्ठा करना अेक दैवी विद्या है, अमर-कला है। यह विद्या, यह कला जिसने प्राप्त की है अैसा कवि शायद ही मिलता है, कविका नाम धारण कर मुर्गेकी तरह छाती निकालकर अिधर-अुधर भटकने-वाले पामर जीव अनेक हैं। अुनकी तो हम बात ही छोड़ दें।

प्रतिभाशाली चित्रकार सृष्टि-सौन्दर्यको चित्रित कर अुसे स्थायी बनाता है। यों तो सृष्टि-सौन्दर्य हम अपनी आँखों देखते ही हैं, अुसे चित्रबद्ध करनेकी क्या जरूरत? ज्यादा से ज्यादा अेकाध छाया-चित्रकार-(फोटोग्राफ़र)-की मदद लें तो काफ़ी है। लेकिन चित्रकारका कार्य तो कुछ और ही है। वह यह सिखाता है कि प्रकृतिका सौन्दर्य आँखसे नहीं अपितु हृदयसे कैसे देखना चाहिये। प्रत्येक सृष्टिकी जगह वह प्रति-सृष्टिका निर्माण करता है। अुसकी बनायी हुअी अिस नवीन सृष्टिका जीवनमें अन्तर्भाव होनेपर भी वह साफ़तौरपर जीवनसे अलग ही दिखाअी देती है; और नित्यके अनुभूत जीवनपर कुछ और ही अलौकिक प्रकाश डालती है। चित्रकार की प्रतिभा अन्तर्बाह्य विश्वको हृदयस्रोतमें शराबोर कर रसस्निग्ध बनाती है। अिसीलिये तो रसिकों की

दृष्टिमें चित्रकार तीर्थरूप बन जाता है। अिस तरहके अुच्च कोटिके चित्रकार दुनियामें बहुत ही कम हुअे हैं। नाम-मात्रके चित्रकार तो हर घरकी दीवारपर लटकते या प्रत्येक प्रकाशनके अँधेरेमें सोते हुअे दिखाअी देते हैं।

सच्चा साहित्यकार सबक़ नहीं सिखाता, बल्कि दृष्टि देता है। अिसीलिये शिक्षकके पदपर बैठे बिना ही वह गुरुस्थान प्राप्त करता है। किसी अंधेका हाथ पकड़कर अगर अुसे हम एक कमरेमें ले जायें और वहाँकी प्रत्येक वस्तुका उसे स्पर्श कराके अुस कमरेका परिचय दिला दें तो वह उसमें आसानीसे रह सकता है और अपना नित्यका व्यवहार भी चला सकता है। लेकिन अितना झंझट करनेके बजाय अगर हम अुस अंधेको दृष्टि दे सकें तो अेक क्षण पूर्वका वह अंधा कमरेकी सभी वस्तुओंका मानो स्वामी बन जायगा। फिर तो अुसे कमरेकी हर चीजका परिचय करानेकी ज़रूरत नहीं रहती। अब तो वह हमारा आश्रित नहीं, साथी बन गया।

साहित्यकी महिमा अैसी ही है। साहित्य पाठ नहीं पढ़ाता, दृष्टि देता है। साहित्य जीवनका सिर्फ़ अुद्दीपन है, रहस्योद्‌घाटन है, साक्षात्करण है।

हे साहित्यगुरो परमात्मन्, तेरे अवतारके सदृश ब्राह्मी साहित्यकार अिस दुनियामें भेज दे। दुनिया आपद्‌ग्रस्त है, अुसे शान्ति प्रदान कर; अुसे कृतार्थ कर।

—फ़रवरी १९३७

६

सौन्दर्यका मर्म

साहित्य की भाषा मानो अेक वर्तन है । साहित्यका मूल्य अिस बातसे निर्धारित होता है कि हम अुस वर्तनमें किस क़िस्म का माल भरना चाहते हैं ।

कुछ लोग समझते हैं कि साहित्यकी सारी कल्पना अुसके रूप और सौन्दर्यपर रची हुअी है। कोअी भी विचार या कल्पना अगर आकर्षक रूपमें रखी हुअी हो, अुसमेंसे चमत्कृति पैदा होती हो तो वह साहित्य है। भारी से भारी मूल्यवान विचार या अनुभव और आसमानतक अुड़नेवाली कल्पना अगर रोचक रूपमें न रखी गयी हो तो अुसे हम साहित्य न कहेंगे। अुसे दर्शन कहो, धर्मशास्त्र कहो या सन्तवाणी कहो। अुसे आप साहित्य नहीं कह सकते ।

अिसके विपरीत अगर कोअी विचार बिलकुल मामूली हो, कल्पना छिछली हो, आदर्श हलका और समाजविनाशक हो, लेकिन अगर वह मनोरंजन करता हो और अुसका स्वरूप चित्ताकर्षक हो तो वह अुच्च कोटिका साहित्य कहा जायगा। मनोविनोद, चित्ताकर्षण और रूपलावण्य ही साहित्यका प्राण है ।

अिसमें कोअी शक नहीं कि कोअी भी वाग्व्यापार अगर चित्ताकर्षक रूपमें पेश न किया गया होता तो हम अुसे सरस साहित्यके तौरपर नहीं पहचानते, लेकिन अगर अुस साहित्यमें आया हुआ विचार हीन हो, अनुभव छिछला हो, और कल्पना सड़ी हुअी हो तो सिर्फ़ रूपपरसे ही हम अुसे अुत्तम साहित्य नहीं कहते ।

अब ज़रा रूपका स्वरूप जांच लें। कोअी भी युवक अथवा युवती शरीर और मनसे निरोग हो, व्यायाम, संयम तथा प्रस-

न्नतासे असने अपने यौवनकी अच्छी रक्षा की हो तो असमें अपने-आप ही असुक मात्रामें सौन्दर्य आ ही जाता है। यह सौन्दर्य साबुनसे, तरह-तरहके खुशबूदार तेलोंका अिस्तेमाल करनेसे या नये ढंगके अनेक रंग और दवाइयां लगानेसे नहीं आ सकता। आरोग्य और यौवन स्वयं ही सुन्दर होता है। सुन्दरता और आकर्षकता असकी सहज सुवास होती है। लेकिन अिसके विपरीत अगर शरीर बीमार हो, मन विकृत हो, स्वभाव स्वार्थी, चिड़चिड़ा या अहंप्रेमी हो और यह सब छिपानेके लिये कपड़ों की सजावट, शिष्टाचारकी तमीज़ और हालचालके नाज़ व नखरों द्वारा सौन्दर्य लाया गया हो तो कुछ भूखे लोग अस चमक दमकसे भले ही आकर्षित हो जायँ, लेकिन जानकार, स्वच्छ अभिरुचि रखनेवाले लोग यह सारा प्रयास देखकर दुखी ही होंगे, अनके मनमें ग्लानि ही पैदा होगी।

साहित्यका भी अैसा ही है। साहित्य जीवनका प्रतीक है। जीवन अगर निरोग, प्रसन्न, सेवापरायण, प्रेमपूर्ण और पराक्रमी होगा तो असके सभी व्यापार आकर्षक और प्रभावशाली होंगे। जिस विचारमें आर्यता है, अुदात्तता है, सर्व-मंगलकारी कल्याण की भावना है असका शब्दशरीर आप ही आप भाव-गंभीर, ललित-कोमल और प्रसादपूर्ण होगा। अुच्च साहित्य सुन्दर होता ही है, लेकिन सजधज करनेसे कोअी साहित्य अुच्च या शिष्ट नहीं होता।

अिसलिये केवल साहित्यकी अुपासना करनेके बजाय अगर हम आर्य और प्रसन्न जीवनकी अुपासना करें तो साहित्यकी सुन्दरता स्वयं ही फूट निकलेगी। वृत्तिकी आर्यता ही शिष्टाचार या तमीज़की आत्मा है। निरा शिष्टाचार हास्यास्पद होता है या दिलको अुकता देता है। खोखली सौन्दर्योपासना अिससे अन्य कोअी असर पैदा नहीं कर सकती।

जिस साहित्यमें प्रगतिशील जीवनकी प्रेरणा अथवा प्रतिध्वनि हो वह साहित्य प्रगतिशील है। अैसे साहित्यमें और सब कुछ हो या न हो, अनुकरण तो हरगिज़ नहीं होना चाहिये। दूसरा कुछ हो या न हो, अुद्देश्यका अभाव तो कभी नहीं होना चाहिये।

—जून १६३७

७

प्राचीन साहित्य

साहित्यकारोंने कविताकी तुलना कान्तासे की है। शास्त्रकारोंने कुटुम्बमें स्त्रीकी जिस प्रतिष्ठाकी कल्पना की है वही प्रतिष्ठा संस्कारी जीवनमें साहित्यकी भी है। जो समाज स्त्रीकी प्रतिष्ठाको भूल जाता है वह साहित्यकी क़दर भी क्या करेगा?

जो मनुष्य जीवन-भर व्रत-नियमादि किया करता है, अुसे यह भान नहीं रहता कि हम कहां थे और कहां जा रहे हैं। अुसके लिए भूत और भविष्य दोनों शून्य हैं। क्या हमारे टीकाकारोंका भी यही हाल हो गया होगा? संस्कृत-साहित्यके रहस्यको प्रकट कर देनेवाले टीकाकार कम नहीं हैं। यदि साहित्यका कुरुक्षेत्र करना हो तो हमारे टीकाकारोंकी सेना अितनी बड़ी है कि वह जिस देशको चाहे हरा सकती है। परन्तु साहित्यको व्यापक दृष्टिसे देखना किसीको सूझा ही नहीं। जिस तरह कालिदास पुष्पक विमानमें बैठकर लङ्कासे अयोध्या तकके प्रदेशका निरीक्षण विहग-दृष्टिसे कर सके, अथवा यक्षपर दया करके वह हिमगिरिसे अलकापुरी तक मेघको भेज सके, अुस तरह अेक भी टीकाकारको यह नहीं सूझा कि वह साहित्य-खण्डका समग्र अवलोकन करे। जिस तरह वीणा दस-पांच

मनुष्योंका ही मनोरञ्जन कर सकती है, अुसका सङ्गीत किसी महासभामें व्याप्त नहीं हो सकता, अुसी तरह टीकाकारोंकी दृष्टि भी अेक सम्पूर्ण श्लोकके बाहर नहीं पहुंचती। ज्यादा-से ज्यादा यदि अुन्होंने यह बता दिया कि नान्दीका श्लोक सम्पूर्ण नाटककी वस्तुओंको किस तरह सूचित करता है, तो वे कृतार्थ हो जाते हैं। हमारे साहित्य-मीमांसक भी जितनी गहराईमें अुतर सके हैं, अुतने विस्तारसे नहीं देख सके। वे अेक श्लोकके भीतर दस-पांच अलंकारोंकी संसृष्टि सिद्ध कर सकते हैं, परन्तु यह बतलाना वे अपना कर्त्तव्य नहीं समझते कि अेक सम्पूर्ण महा-काव्य या खण्डकाव्य किस तरह अेकराग है और अुसका आत्मा किसमें है? अिसका अपवाद-रूप अेक क्षेमेन्द्र माना जा सकता है। अिस काश्मीरी महाकविने अलंकार और रसोंके बाद औचित्यका महत्व बतला दिया है। अुसने अेक ही कविके अेक ही श्लोकका रस निचोड़नेके बदले संस्कृत-साहित्यके बत्तीस विख्यात कवियोंकी भिन्न-भिन्न काव्य-कृतियोंको लेकर उनके गुण और दोषोंकी विवेचना की है। यह निष्पक्ष कवि दोषोंको बताते समय अपने दोषोंको भी ध्यानमें लाना नहीं भूला। तथापि यह कल्पना तो क्षेमेन्द्रको भी नहीं सूझी थी कि अेक सम्पूर्ण नाटक अथवा काव्य लेकर अुसके रहस्यकी खोज की जाय। अिसकी दृष्टि से औचित्य था—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे।
क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे॥
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्वे सत्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सार-संग्रहे॥
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्यथाशिषि।
काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्॥

अितनी ही जगहोंमें 'औचित्य-विचारकी चर्चा' करके कवि

रुक गया है। रवीन्द्रनाथने हमें साहित्यकी ओर देखनेकी अेक नअी दृष्टि दी है।

जैसे नाटक काव्यका निष्कर्ष है, अुसी तरह कवि भी सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय आकांक्षा, जातीय आदर्श अथवा प्रजाकी वेदनाओंकी स्वयंभू मूर्ति है। जब कोई भट्टनारायण 'वेणीसंहार' लिखता है, तब द्रौपदीका क्रोध, भीमकी प्रतिज्ञा, कर्णका मत्सर और अश्वत्थामाकी जलनका चित्र खींचनेके बाद वह राष्ट्रीय अुत्थान और पतनकी मीमांसा भी अपने ढंगसे करना चाहता है। जब कालिदास 'रघुवंश' लिखने बैठते हैं तब रघुके कुलकी ही नहीं किन्तु अखिल आर्य-संस्कृतिकी प्रकृति और विकृतिको अंकित कर देना चाहते हैं।

हमारे कवियोंकी कृतियोंकी ओर अैतिहासिक अथवा सामाजिक दृष्टिसे देखनेकी वृत्ति भले ही पश्चिमी लोगोंने हमें सुझाई हो, परन्तु रवीन्द्रनाथका आर्य-हृदय तो संस्कृति-साहित्य की ओर आर्य-दृष्टिसे ही देख सका है। जिस प्रकार एक समर्थ चित्रकार केवल दस-पांच लकीरोंसे ही सम्पूर्ण चित्रको सूचित कर सकता है अुसी तरह रवीन्द्रनाथने भिन्न-भिन्न प्रसंगोंपर लिखे हुए पांच-सात स्फुट निबन्धोंसे ही यह सब दिखा दिया है कि संस्कृत-साहित्य क्या है, संस्कृत कवि का हृदय कैसा है, हिन्दुस्तानका अितिहास किस पुरुषार्थको लेकर बैठा है, अित्यादि। संस्कृत कवियोंमें अैतिहासिक दृष्टि भले ही न हो, परन्तु अुनमें अैतिहासिक हृदय तो अवश्य है। सामाजिक सुख-दुःखोंकी प्रतिध्वनि अुनके हृदयोंसे जरूर अुठती है। राष्ट्रके अुत्कर्षके साथ वे आनन्दित होते हैं और अुसकी मूर्छाके साथ मूर्छित। लोगोंका अधःपात देखकर उनका हृदय रोता है, और जब ऐसा होता है तब वे प्रेमभरे और मनोहर वचनोंसे समाजको सचेत करना चाहते हैं।

जहां शास्त्रका वस नहीं चलता, जहां नीतिशास्त्रकार 'ऊर्ध्व-वाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे' अिस तरह अरण्यरोदन करते हैं, वहां कविजन अपनी सहृदयतासे समाजके हृदयको जागृत करके समाजको उन्नतिके मार्गपर ले जाते हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, पाराशर और अुनकी जातिके अनेक स्मृतिकार समाजपर जो असर नहीं कर सके, वह असर लुटेरोंका प्रमुख वाल्मीकि अेक अमर काव्य-द्वारा कर सका है। श्री शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयीपर भाष्य लिखकर जो दिग्विजय प्राप्त किया, उससे कहीं वढ़कर दिग्विजय षट्पदीके समान सुन्दर स्तोत्रोंको लिखकर उन महा-परिव्राजकाचार्यने प्राप्त किया है। शंकराचार्य को शास्त्रार्थ करते समय खण्डन-मण्डन-द्वारा विरोधियोंकी बुद्धिपर हठ-पूर्वक विजय प्राप्त करनी पड़ी, परन्तु जव वे परम-हंस अपने सुन्दर स्तोत्रोंका आलाप करते होंगे तव लोक-हृदय स्वेच्छासे, राजी-खुशीसे पिंजड़ेमें आगया होगा। अैसे कवियों-का हृद्गत भाव प्रकट करनेके लिए अुनके समान ही समर्थ कवियोंकी आवश्यकता थी। वारह वर्ष व्याकरण रटकर, दूसरे वारह वर्ष तक न्याय-शास्त्रके छिलके छीलनेके वाद साहित्य-शास्त्रकी 'सर्जरी' सीखकर तैयार हुए टीकाकारोंका वह काम नहीं।

वाल्मीकि, भवभूति, भास और कालिदास जैसे कवियोंने रवीन्द्रके समान समालोचकको पाकर 'अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलाः क्रियाः' कहकर अुसी तरहकी कृतार्थताका अनुभव किया होगा जो न्यूटन और केप्लरका जन्म होनेपर ब्रह्मदेवको अपनी सृष्टि रचनापर हुअी होगी। काल निरवधि है और पृथ्वी विपुला है यह हमारे कवियों की श्रद्धा रवीन्द्र-जैसे समान-धर्मात्माको देखकर चरितार्थ हुअी होगी।

जव पुराने टीकाकारोंने हमें आवश्यक दृष्टि नहीं दी, तव

हमारे पाश्चात्य पण्डितम्मन्य अध्यापकोंने हमें अुल्टी ही दृष्टि दी। अुन्होंने यही पाठ पढ़ाना शुरू किया कि यूरोपियन आदर्शानुसार हिन्दी अितिहासमें कुछ भी नहीं, यूरोपियन शिष्टाचार के अनुसार हिंदी-काव्य हमेशा तुच्छ समझे जायँगे; अितना ही नहीं वरन् 'क्षेमं केनचिदिद्धुपाण्डुतरुणा' के समान श्लोकका जिस समाजमें निर्माण हुआ, जिस समाजने क़िलोंकी दीवारोंमें नहीं, किन्तु वन-उपवनकी गोदमें ही परवरिश पायी है, अुसी समाजके कवियोंको निसर्ग निहारनेको नेत्र नहीं हैं, अैसा कहनेकी भी ढिठाई करने में वे और अुनके शिष्य नहीं हिचकते ! हवशी मनुष्य जवतक अपना-सा रंग और अपनी-सी नाक तथा होंठ किसीके नहीं देखते तवतक उसे कभी सुन्दर नहीं मानते।

हिन्दुस्तानका अितिहास अुज्ज्वल है, व्यापक है और रहस्यपूर्ण है। पर वह यूरोपियन अितिहाससे विलकुल भिन्न है। रवीन्द्रनाथने हमें वतलाया है कि वह सरकारी तहखानों और तवारीख़ोंमें नहीं वल्कि अुस देशके साहित्य आदिमें मिल सकता है जहाँ राष्ट्रीय-जीवन सजीव रूपमें विद्यमान है। हमारी रंगभूमि तरह-तरहके अुपकरणोंसे व्हाइट वे लेड लॉ' कम्पनीके 'शो-रूम'का प्रदर्शन नहीं करती; अिसका कारण हमारा जंगलीपन नहीं, परन्तु वह सर्वोच्च अभिरुचि है, जो यूरोपियन टीकाकारोंकी कल्पनामें भी नहीं आसकती। पर हमें यह समझाना भी रवीन्द्रनाथके ही नसीवमें वदा था। हम नहीं जानते कि कालिदास का मेघ यक्ष के सन्देश को अलकापुरी ले गया था या नहीं; किन्तु रवीन्द्रनाथने तो अुसीको अपना दूत वनाकर अुसके द्वारा हमें प्राचीन समयके भारतका साक्षात्कार कराया है। राष्ट्रीय हृदय जिसे स्वीकार करता है, वह काव्य अितिहासके पदको प्राप्त कर सकता है। यह अुन्होंने रामायणकी मीमांसा करके

सिद्ध किया है। अिस तरह अनेक पद्धतियोंसे अुन्होंने संस्कृत साहित्य का अुद्‌घाटन किया है।

परन्तु रवीन्द्रनाथकी प्रतिभा संपूर्णरूपसे प्रकट हुई है, अुनके कुमार-सम्भव और शाकुन्तलपरके निवन्धोंमें। जर्मन कवि गेटेकी अेक-श्लोकी टीकाको लेकर कवीन्द्र चले हैं और उन्होंने अपनी अलौकिक शक्तिसे यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि किस तरह शाकुन्तल कालिदास की सम्पूर्ण कृति है। शेक्सपियरके टेम्पेस्टके साथ शाकुन्तलकी तुलना करके शेक्स-पियरके मुक्तावलेमें अुन्होंने कालिदासकी अभिरुचि की श्रेष्ठता-को प्रकट करनेका मौक़ा भी वड़ी अच्छी तरह लेलिया है। शकुन्तलापर लिखा अुनका निवन्ध एक अपूर्व योग है। कालि-दास, गेटे, शेक्सपियर और रवीन्द्रनाथ अिन चार प्रतिभा-संपन्न, विश्वविख्यात-महाकवियों का कण्वाश्रममें सम्मिलित होना यह कुछ सामान्य वस्तु नहीं। कवियोंकी वाणीमें कल्पनाओंके चाहे जितने फ़व्वारे अुड़ते हों, तो भी वह वाणी खाली कल्पनामय नहीं होती। यह वात तो रवीन्द्रनाथने ही सवसे पहले अितनी सम्पूर्णतासे प्रकट की है। अुन्होंने वताया कि अुसमें तो व्यक्ति-गत या सामजिक जीवन-रहस्य का तत्त्वज्ञान होता है; समाज-शास्त्र और धर्मशास्त्र, नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र अिनके अन्तिम सिद्धान्तोंको तर्ककी दस्तंदाजी और गड़वड़से वचा-कर कविजन अपनी अपूर्व प्रतिभासे अुन्हें अनुप्राणित करते हैं और जीवनके समान अेक सम्पूर्ण और सजीव कृतिका निर्माण करते हैं। 'जो यहाँ है सो वहाँ है, जो वहाँ है सो यहाँ है, सारी सृष्टि एक-रूप है', ऋषियोंके देखे हुए अिस सिद्धान्तको कवि-जन हमारे सम्मुख मूर्तिमान खड़ा कर देते हैं। संस्कृतमें 'कवि' शव्दसे जो भाव मनमें अुत्पन्न होते हैं वे अंग्रेजीमें 'पोअेट' शव्दसे नहीं होते। कवि अर्थात् द्रष्टा, जो जीवन-रहस्यको

देखता है, जिसे अिह और पर सृष्टि दोनों अेक-सी प्रत्यक्ष हैं, जो अतिवाद में अुतर सकता है। जो अिस संसार में रहते हुअे भी अिस संसारका नहीं, वही कवि है। जो चर्म-चक्षुको दिखाअी नहीं देता, जिसका आकलन तर्क-दृष्टिसे नहीं होता, और जिसके लिए व्यावहारिक संसारमें प्रमाण नहीं मिलता अैसे अतीन्द्रिय, सूक्ष्म और स्वसंवेद्य अनुभवोंका सम्पूर्ण साक्षात्कार करके अुन सब अनुभवोंको शब्द अथवा वर्णके समान मर्यादित साधनोंद्वारा दूसरोंके लिअे भी प्रत्यक्ष कर सकता है वही कवि है। कवि वे हैं जो अिस सृष्टिकी—अिस बाह्य-सृष्टि और अन्तः-सृष्टिको—आधार-स्वरूप अीश्वरीय योजनाका, अीश्वरी लीला और अीश्वरी आनन्दका साक्षात्कार कर सकते हैं। वैदिक ऋषि जब अीश्वरी-स्तुतिकी अूर्मिके शिखरपर पहुँच जाते हैं तब परमेश्वरको ही 'कवि' कहकर पुकारते हैं, अिस सृष्टिको अीश्वरका काव्य कहते हैं। अिसीलिए कविका सीधा अर्थ निश्चित होता है सृष्टिका रहस्य जानने वाला। कालिदासने जीवनके रहस्यको किस तरह पहचाना था यह न तो मल्लिनाथने जाना, और न जाना राघवभट्टने। अिस रहस्यको जान सके गेटे या रवीन्द्रनाथ ही।

कवियोंकी कृतियों पर टीकाकार तो बहुत हो गये हैं, परन्तु 'काव्येर अुपेक्षिता'में रवीन्द्रनाथने जो रसिकता और दाक्षिण्य बतलाये हैं वे तो अपूर्व ही हैं। 'काव्येर अुपेक्षिता' अेक असाधारण टीका है। पर वह अुतना ही अप्रतिम काव्य भी है। रवीन्द्रनाथ अेक भी दूसरा निबन्ध न लिखते, केवल यही अेक निबन्ध लिख देते तो भी साहित्य-रसिकोंको अुनकी काव्य-शक्तिका पूरा-पूरा पता लग जाता।

मार्मिक पाठकके लिये यह जान लेनेके लिये किसी भारी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है कि 'चोखेर बाली' तथा 'नौका

हुवी' अुसी कविके लिखे हैं जिसने 'काव्येर अुपेक्षिता' में पत्र-लेखोंका विवेचन किया।

जो यह कहते हैं कि हमारे कवि सृष्टिका निरीक्षण करते ही नहीं अुन्हीं पुरानी अुपमाओं को दोहराते चले जाते है, वे न तो स्वयं ही सृष्टिका निरीक्षण करते हैं और न काव्यका परीक्षण। यदि वे टीकाकार रवीन्द्रनाथका वह निबन्ध पढ़ेंगे, जिसमें उन्होंने कादम्बरीका दर्शन कराया है, तो अवश्य उनका भ्रम दूर होजायगा। साहित्यकार जो बाणभट्टकी कादम्बरीको नारिकेल-पाक कहते हैं, अुसका यह बढ़िया अुदाहरण है। बाणभट्टके काव्य कान्तारमें गेंडेके समान अकुतोभय संचार तो वही कर सकते हैं, वन-वराहके समान वहाँ मुस्ताक्षति भी वही कर सकते हैं, हरिणोंके समान कल्पना-तृणांकुरोंको अर्ध-विलीढ़ करके अितस्ततः वही फेंक सकते हैं, अथवा अभिनवमधु-लोलुप भ्रमरके समान वे ही वहा स्वेच्छा-विहार कर सकते हैं। जिन्होंने हिमालय के समान पर्वत और मेघना या पद्माके समान नदियां देखी हैं, अथवा जिन मनुष्योंने पुष्प, पक्षी तारे और लड़कोंके साथ खेलनेमें बरसों व्यतीत कर दिये हैं। संस्कृत-साहित्यमें अंतःसृष्टि और बाह्यसृष्टिका जो सारूप्य और तादात्म्य है, अुसका सम्पूर्ण दायित्व रवीन्द्रनाथको मिला है। अिसीसे कालिदास(बाणभट्ट और वाल्मीकिके समान कविजन पुत्र-संक्रातलक्ष्मीक पिता के समान कृतार्थ हो गये हैं।

जबसे हिन्दुस्तानमें 'यूनिवर्सिटी' स्थापित हुई तबसे प्रत्येक ग्रन्थका बहिरंग-परीक्षण करनेकी प्रणाली बहुत ही बढ़ गई है। काल-निर्णय, पाठ-भेदकी मीमांसा, प्रक्षिप्तवाद खड़ा करना यह तो हम खूब सीख गये हैं, और यदि अेक ग्रन्थकारके नाम पर अनेक ग्रन्थ हों तो हम यह भी अनुमान करने लग गये हैं कि अेक ही नामके अनेक लेखक हो गये होंगे, और अिन ग्रन्थों

के लेखक भिन्न-भिन्न होंगे। सत्यान्वेषणकी दृष्टिसे और अैतिहासिक दृष्टिसे भी यह सभी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण तो ज़रूर हैं। परन्तु यदि हम बगीचेकी लम्बाई, चौड़ाई, उसके भीतरके वृक्षोंकी तफ़सील और गिनती आदि अूपरी बातोंकी ही जानकारी करनेमें सम्पूर्ण समय लगा देंगे और फूलोंकी सुगन्ध, और फलोंका स्वाद लेना भूल जायँगे, तो दुष्यन्तके समान रसिक हमें अवश्य कहेगा कि, 'इन्द्रियैर्वञ्चितोऽसि'।

आज हम शिक्षाका आदर्श और शिक्षाकी प्रणालीमें परिवर्तन करना चाहते हैं। पाश्चात्य आदर्शको गुरु-स्थानमें रखकर अुस गुरुदृष्टिसे संस्कृत-साहित्यकी खोज करना हम नहीं चाहते। हम अपने प्राचीन कवियोंके समीप शिष्य-भावसे समित्पाणी होकर जाना चाहते हैं। आस्तिक जिज्ञासासे अुनसे प्रश्न करना चाहते हैं। अैसे अवसर पर संस्कृत-साहित्यके विषयमें वह जान लेना परमावश्यक है, जो हमारे अुस कवि-सम्राटने, जिसके लिअे हमें अभिमान है, कहा है।[1]

८

पत्रकारकी दीक्षा

अिस परिषद्के सामने कोअी निबन्ध पेश करनेका अधिकार मुझे है या नहीं अिसका मैं विचार कर रहा था। अैसा लगता है कि अधिकार है भी, और नहीं भी। कअी साल हुए, देश-विदेशके अखबार मैं दिलचस्पीके साथ पढ़ता था। पत्रकारके कार्य और कर्तव्यके विषयमें सोचता आया हूँ। बंगभंगके वादके राष्ट्रीय आन्दोलनमें पहले महाराष्ट्रके अेक स्थानीय

---

१ कवीन्द्र रवीन्द्रके 'प्राचीन साहित्य'के गुजराती अनुवादकी भूमिका।

साप्ताहिक पत्रके साथ और बादमें अेक दैनिक पत्रके साथ मैंने अत्यंत निकटका संबन्ध रखा था। अिस वक्त की जनजागृति और आत्मशुद्धिके आन्दोलनमें भी 'नवजीवन' जैसे पत्रके साथ मेरा अुतना ही निकटका सम्बन्ध हो गया। और अगर अैसा कहूँ कि अिन दो आन्दोलनोंके बीचके लम्बे अरसेमें विचार और क़लमका ब्रह्मचर्य-पालन भी मैंने किया था, तो अुसमें अतिशयोक्ति न होगी। अिस तरह कहा जा सकता है कि पत्रकार-परिषद्के समक्ष अपने विचार रखने का अितना अधिकार मैंने प्राप्त किया है। लेकिन यह भी सही है कि आजकल पत्रकारके व्यवसायका जो आदर्श बन रहा है अुसको दृष्टिके सामने रखते हुअे अिस धंधेके लिये आवश्यक योग्यता अपनेमें लानेकी अिच्छा किसी दिन मेरे मनमें पैदा न हुअी। मुझे पहलेसे ही अैसा लगता आया है कि पत्रकारकी अपेक्षा शिक्षाशास्त्रीका कार्य अधिक अुपयोगी है। अिसलिये पत्रकारके लिये आवश्यक योग्यता मुझमें आयी ही नहीं। पत्रकारके लिये आवश्यक अेक गुण ही यह मुझे निबंध लिखनेकी प्रेरणा देता है। पत्रकार प्रधानतया विचार-प्रचारक होता है। विचारका प्रचार करनेकी, विचार 'ब्रॉडकॉस्ट' करनेकी वृत्ति कहिये या खाज कहिये—पत्रकारमें जितनी होती है अुतनी शायद ही किसी दूसरे में होगी। धर्मोपदेशक और अध्यापक में भी यह वृत्ति न्यूनाधिक मात्रामें ज़रूर होती है।

वास्तवमें देखा जाय तो धर्मोपदेशक, पत्रकार और शिक्षाशास्त्री तीनोंका कार्य लगभग अेकसा ही है। सोयी हुअी जनता जब जागना चाहती है अुस वक्त तो पत्रकारके पदको असाधारण महत्त्व और अुत्तरदायित्व प्राप्त होता है। पत्रकार यानी लोकशिक्षाका आचार्य, ब्राह्मणोंका ब्राह्मण और चारणोंका चारण है! जनता जब युयुत्सु हो जाती है तब कभी बार पत्रकारको

सैनिक और सेनापति भी बनना पड़ता है और अच्छी तरह क्षात्रधर्मकी भी तालीम लेनी पड़ती है। जहां-जहां अन्याय होता हो, जहां-जहां दीन-दुर्बल और मूक वर्गोंपर जुल्मो-सितम ढाया जाता हो वहां-वहां 'क्षतात्किल त्रायते' के अपने विरुदका स्मरण कर पत्रकार कूद पड़ता है। जब अैसे अवसर नहीं होते तब विचार, जानकारी, संस्कार, अभिरुचि और आदर्शोंकी प्याअू चलाकर वह समाजसेवक बन जाता है। अज्ञान या अदूरदृष्टि के कारण लोग जहां लड़ते होंगे वहां 'ज्ञानांजनशलाकया' लोगोंकी दृष्टिको शुद्ध करनेकी वह कोशिश करता है। समाजचक्रके पहिये जब अपना अेकराग (Hormony) भूलकर चीत्कार करने लगते हैं तब अुचित स्थानपर स्नेह डालकर वह अुस घर्षणको दूर करता है, और जब-जब सरकार-दरबारके मौक़े आते हैं तब-तब वह जनताका प्रतिनिधि बनकर लोकमतको अेकधारा बनाकर लोकशक्तिको सचेत करता है। अिस तरह लोकसेवक, लोक-प्रतिनिधि, लोकनायक और लोकगुरुकी चतुर्विध अुपाधि पत्रकार प्राप्त कर सकता है।

आजकलके वैश्ययुगमें पत्रकारका अेक और ही आदर्श बन रहा है और वह शिष्टसम्मत भी हो रहा है। 'हमारे सामने धर्मकी बातें मत किया करो, हम सिर्फ़ व्यवहार जानते हैं; आदर्शोंके तारस्वरमें गानेको लोगोंसे मत कहो, मध्यम या मन्द स्वरमें जो कुछ गवाना हो वही गानेको कहो; हमसे साधु या वीर बननेकी अपेक्षा मत रखो बल्कि हमें अैसी ही बातें सुझाओ जो नफ़ा और नुक़सानका हिसाब करनेवाले कुटुंबोंको पसन्द आयें या अनुकूल हों। दुनिया हमारी है। वीर और साधु लोग समाजके लिये शोभारूप तो हैं, लेकिन वह पगड़ी नहीं, बल्कि अुसकी किनारीपर की हुअी पच्चीकारीकी तरह हैं।' अिस आदर्श-को स्वीकार करनेवाले लोग कहते हैं, 'पत्रकारको अपने आदर्श-

का मान व्यर्थ ही अूँचा नहीं रखना चाहिये। लोग जो कुछ चाहते हैं अुसे मुहैय्या करना ही पत्रकारका आदर्श होना चाहिये। लोगोंके हम कोअी विद्यागुरु तो हैं नहीं कि अुन्हें मारपीट कर पढ़ायें। हम तो लोगोंके खिदमतगार हैं। ग्राहकोंको जिस मालकी जरूरत होगी वह देकर अुन्हें खुश रखना ही दूकानदारका आदर्श है। गायकका आदर्श तो यही है कि राजा जो राग चाहे वह गाकर अुसका रंजन करे। लोग हमारे शिष्य नहीं, सेठ हैं। जो सेठको सिखावन देने जाय वह नौकर कैसा? ग्राहकको जो धर्मशास्त्र या संयम सिखाने लगे वह दूकानदार कैसा?'

यहांतक आगये तो फिर अैसी दूकानदारीका ही ज्ञान आगे चलता है। दूकानदार अिस बातका खयाल हमेशा नहीं करता कि ग्राहकको कौनसा माल चाहिये। वल्कि वह तो अिसी बात-का ध्यान रखता है कि अपने पास पड़ा हुआ माल ग्राहकको कैसे आवश्यक मालूम हो। वह अपने ग्राहकको सेठ मानने के वजाय शिकार मानता है और दुनियाको नीचे खींचता है। अुत्तर भारत में आज क्या चल रहा है? कअी पत्रकार खालिस लड़ाई-झगड़े के दलाल बने हैं। अुन्होंने निंदाके शराबखाने खोले हैं, राष्ट्रीय आपत्ति तथा साम्प्रदायिक गलतफ़हमियोंकी पूँजीपर वह तिजा-रत करना चाहते हैं। लोककथामें जिस तरह गांवका वकवादी अेक प्रधान पात्र होता है अुसी तरह यह पत्रकार समाजके महा-पिशुन बनकर विचरते हैं। शेक्सपियरके आयागोने ऑथेल्लो और डेस्डिमोनाकी जो हालत कर डाली थी वही हालत ये लोग अिस भोले राष्ट्रकी करनेको तैयार हो गये हैं। फर्क अितना ही है कि आयागो अपने धंधेका स्वरूप और परिणाम भली भाँति जानता था और जानबूझकर बदमाशी करता था। अिन सबकी स्थिति वैसी नहीं है। यह अभागे भाअी स्वयं ही विकारमत्त हुअे हैं और यादवी (आपसी लड़ाअी) के यादवोंका अनु-

करण कर रहे हैं।

पत्रकारकी वृत्ति अैसी खाजवाली नहीं होनी चाहिये कि जो कुछ मालूम हुआ, जाहिर कर दिया। अच्छे खानदानके मनुष्यके पेटमें कअी चीज़ें रहती हैं। लेकिन कुछ बातोंमें वह होंठ तक नहीं हिलाता। पत्रकारको कार्यानन्द खोजना चाहिये, न कि वादानन्द। वरना कलमकी पटावाज़ी अेक बार शुरू हो गयी तो फिर सारी दुनियाका संहार हो जायगा। विलायतमें तो जब आन्दोलनों और चर्चा-विषयोंका अकाल पड़ जाता है तब पत्रकार अेक दूसरेके खिलाफ़ अभद्र टीका कर अेक दूसरे पर जीवित रहते हैं। "भिक्षुको भिक्षुकं दृष्ट्वा श्वानवत् गुर्गुरायते!"

सौभाग्यसे गुजरातमें अखबारवाले सज्जनताकी मर्यादा शायद ही लांघ जाते हैं। गुजरातके पत्रकार सौम्य हैं, झगड़ालू नहीं हैं। अैसा भी कहा जा सकता है कि वे झगड़ोसे कुछ भागतेसे हैं। अिसलिये समाज अेक बुराअीसे बच गया है। लेकिन यह कहना मुश्किल है कि यह वादविमुखता गुणरूप ही है। सामाजिक जिम्मेदारीको पहचाननेवाली प्रखर समालोचनाके अभावमें राष्ट्रीय आन्दोलनमें तथा साहित्योद्यानमें कँटीले और बेकार झाड़झंखाड़ बेहद बढ़ने लगते हैं। प्रत्येक सुन्दर आदर्शकी कमजोर नकलें समाजमें फैलती हैं। जिस तरह रविवर्माके चित्र दियासलाअीकी डिबियों पर भी छपते हैं अुस तरह हीन और हीनतर नकलें फैलने लगती हैं और असली चीज़का गला घोंटती हैं। 'तू मुझे कालिदास कह, मैं तुझे भवभूति कहूंगा' अिस तरह 'अहो रूपम् अहो ध्वनिः' चलता है और समाज में आदर्श चढ़ने ही नहीं पाते। जहाँ देखो वहाँ अल्प-सन्तोष। अिसके कारण विचारशुद्धि, भाषाशुद्धि, कार्यशुद्धि तो दूर रही, लेखनशुद्धि भी नहीं रखी जाती। मतभेदके कारण आनेवाली

विविधता अधिक नहीं होती और वह वाधक भी नहीं होती। आज तो सर्वत्र अनवस्था है।

मुझे असा लगता है कि आलोचना करनेका मैं अधिकारी नहीं हूं। असलिये अिस वातको यहीं छोड़ देता हूं और कुछ असी ही सूचनाअें पेश करता हूं जो पत्रका संचालन करने में कामकी सावित हों।

२

अख़वार प्रधानतया वृत्तापत्र होता है। जनता के लाभका विचार करके सारी दुनियाकी ख़वरें देना पत्रकारका प्रथम कर्तव्य है। लेकिन अिस वारेमें–और अत्यन्त महत्त्वके वारेमें–हमें औरोंकी आँखोंसे देखना पड़ता है। आंकडे (Statistics) जिस तरह सरकारसे ही मिल सकते हैं अुस तरह जानकारी तो 'रॉयटर' या 'अेसोसिअेटेड प्रेस' से ही मिल सकती है। वह अपनी ही दृष्टिसे महत्त्वकी ख़वरें हमें दे देते हैं और धीरे-धीरे किस वस्तुको कितना महत्त्व देना, किस सवालको किस दृष्टिसे पेश करना आदि विषयोंमें अपनी दृष्टि हमारे अूपर लादते हैं। शिक्षा और साहित्यकी तरह वृत्ताविवेचन (Journalism[1]) में भी हम विदेशियोंके अनुयायी हो गये

१ Journalism के लिअे हमारे यहां अभी कोअी अेक शब्द रूढ़ नहीं हुआ है, यह आश्चर्य की वात है। अिसके लिये असा शब्द चाहिये जिसमें दैनिक पत्रोंसे लेकर मासिक, त्रैमासिक, वार्षिक पत्रिकाओं तकके सभी अख़वार और अुनमें आनेवाली छोटी-छोटी ख़वरोंसे लेकर गंभीर चर्चा तक सब कुछ समा सके। अपने यहाँ 'जनता-जीवनकी घटना' के अर्थमें 'लोकवृत्त' अेक पुराना और विपुलार्थवाही शब्द है। अिसमें जनताजीवनके सभी अंग आ जाते हैं। अिसपरसे जर्नालिजम्‌को 'लोकवृत्तविवेचन' या संक्षेपमें 'वृत्तविवेचन' कह सकते हैं। जहाँ-जहाँ 'जर्नालिजम्' शब्दका प्रयोग होता है वहाँ-वहाँ यह शब्द ठीक वैठता है।–ले०

हैं। अुसके कारण आयी हुअी पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धि (स्लेव मेन्टैलिटी) अभी नहीं गयी है। आज हमारे यहाँ अनेक पत्र बन गये हैं और विचार-प्रगति नहीं हो रही है। अिसमें अिस पर-प्रत्ययके अवलंबनका कम हाथ नहीं है। और आश्चर्य यह है कि स्लेव मेन्टैलिटीके खिलाफ़ आवाज सभी बुलन्द करते हैं। वृत्तविवेचनका मूल आधार विश्वासपात्र ख़बरें हैं। अुसका तंत्र हमने बनाया ही नहीं है। बुनियादमें ही परावलंबन!

जब मैंने अंग्रेजी पढ़ना शुरू किया तब चार आनेमें 'टाअिम्स आफ़ अिंडिया' मिलता था जिसे पढ़नेकी मैं कोशिश करता था। हिन्दुस्तानकी सभी ख़बरें पढ़ जानेके बाद मुझे अैसा लगता कि क्या हिन्दुस्तानमें सिर्फ़ अंग्रेज़ ही रहते होंगे? क्योंकि सरकारी अधिकारियों और गोरोंके सार्वजनिक और सामाजिक जीवनकी ख़बरें ही अुसमें ज्यादातर आती थीं। मारपीट और हादिसों के जिक्र आते तभी मालूम पड़ता कि गोरी तहके नीचे नेटिव लोगोंका काला समुद्र भी है। अिसमें आश्चर्यजनक या अनुचित जैसा कुछ भी नहीं कि अंग्रेज़ी अखबार वही बातें देंगे जो गोरोंकी दृष्टिसे महत्त्वकी हों। अगर हम अपना जीवन विकसित करना चाहते हों तो हमें अपनी निजी दृष्टिसे जानकारी देनी चाहिये। मालूम होता है कि बंगाली लोगोंने यह कला कुछ-कुछ सीख ली है।

अपने वृत्तविवेचनमें हम अंग्रेजी पढ़ी हुअी दुनियाका ही ख़याल रखते हैं। सरकार और अुसकी करतूतें, विदेशके साथका व्यापार, अंग्रेजी शिक्षा, अदालतें, विद्वानोंका साहित्य और पढ़े-लिखे वर्गके सुख-दुख यही हमारे वृत्तविवेचनके प्रमुख विषय होते हैं। हिन्दुस्तान की जनता, हिन्दुस्तान की कलाअें और कारीगर, किसानोंका जीवन, गाँवोंकी स्थिति, धर्म-प्रचार, गरीबोंका गृहजीवन, परिगणित जातियोंकी अड़चनें, आदि राष्ट्रीय जीवनके प्रधान प्रश्नोंको आवश्यक प्रधानता हम

देते ही नहीं। स्थानीय वृत्तपत्र का अेक भी अच्छा नमूना हमारे सामने नहीं है। हमारे संवाददाता देहातोंमें जाते ही नहीं। वास्तवमें हालत तो अैसी होनी चाहिये कि प्रत्येक वृत्तपत्र गाँवोंके निवासियोंमेंसे समभाववाले कुछ संवाददाता खोजे, अुन्हें अुस कलाकी धीरजके साथ शिक्षा दे और ग्रामीण जीवनकी चर्चामें दिलचस्पी ले। जिस तरह हमारी सभाओंमें शहरवासी अुच्चासनपर बैठतेहैं और बेचारे ग्रामप्रतिनिधि अपनी स्वाभाविक विनय धारण कर दूर कोनेमें किसी जगह बैठ जाते हैं, अुस तरह अखबारोंमें भी लोकजीवनको अेकाध कोना ही मिल जाता है और वह भी हमेशा नहीं मिलता। यह सही है कि जब ग्रामवासी आत्म-निंदा छोड़कर अपनेमें स्वाभिमान और आत्म-प्रत्ययका विकास करेंगे तभी यह हालत सुधरनेवाली है। लेकिन फिर भी अिस दिशामें अखबार प्रारंभ और मदद तो जरूर कर सकते हैं। रेल्वे कंपनी तीसरे दर्जेकी अुपेक्षा भले ही करती हो, लेकिन पत्रकार तो ग्रामजीवनकी, जहाँ कि अुनके चालीस फ़ीसदी ग्राहक रहते हैं, अुपेक्षा बिलकुल नहीं कर सकते। प्रतिष्ठित और जिम्मेदार अखबार अिस दिशामें लापरवाही बरतेंगे तो अुनकी खैरियत भी नहीं है। यह देखकर, कि जनतामें अस्मिता आती जा रही है, कुछ त्वरितदृष्टि पत्रकार अपढ़ वर्गोंकी खुशामद कर अुन्हें चाहे जिस रास्तेसे ले जाकर अपनी प्रतिष्ठा जमायेंगे, और सच्ची प्रजाकी शक्तिके ये गैर-जिम्मेदार सरदार देशमें कौनसा अुत्पात न मचा सकेंगे? नतीजा यह होगा कि प्रतिष्ठित नेताओंको आखिर अैसे लोगोंको भी प्रतिष्ठा की मंजूरी देनी पड़ेगी और अुनके साथ किसी तरह का समझौता करना पड़ेगा। अज्ञानी जनता गैर-जिम्मेदार लोगोंके नेतृत्वमें फंस जाय तो सरकारको हमारे आंदोलनको तोड़ डालनेके लिये वह अेक रामबाण अस्त्र मिलेगा। अंग्रेज सरकारको लोकमतसे परिचित करानेमें और विलायतकी

जनतामें हिन्दुस्तानकी हालतके बारेमें लोकमत तैयार करनेमें हमने जो अेक समय गँवाया अुतना ही अगर हिन्दुस्तानकी ग्रामनिवासी जनताको तैयार करनेमें लगाया होता तो आज हम स्वराज्यमें पुराने हो गये होते। सच्चे कामका प्रारंभ कष्टदायक और आहिस्ता भले ही हो, शुरू-शुरूकी मन्दता भले ही हो लेकिन कुल मिलाकर सच्चे कामके फल ही पहले पकते हैं। अब भी 'जब जागे तभी सवेरा' समझकर किसानों, जुलाहों, कारीगरों, मजदूरों, स्त्रियों और क्लर्कोंकी स्थितिका महत्त्व समझकर अुनकी दुर्दशा दूर करनेके लिये, अुन्हें तैयार करनेकी दृष्टिसे अुनके सवालोंकी तरफ़ ध्यान देनेका व्रत पत्रकारोंको लेना चाहिये। अबतक समाजसुधार और धर्मसंस्करण जैसे महत्त्वके विषयोंका विवेचन भी हमने मध्यम श्रेणीकी दृष्टिसे ही किया है। यह दुःखकी बात है।

जैसे-जैसे पत्रकार ग्रामीण जीवनके विषयमें अधिकाधिक लिखते जायेंगे वैसे-वैसे प्रचारकों, अुपदेशकों, नेताओं और कूटनीतिज्ञोंके लिये गाँवोंकी मुलाक़ात लेना लाज़िमी होगा। लेकिन वैसा होने के लिये पत्रकारोंके लेख स्थानीय रंगसे रंगे हुअे होने चाहिये। अुनमें स्थानीय अध्ययन और स्थानीय समभाव पूरी तरह होने चाहिये। 'सम्पादककी नजरसे' लिखे हुअे गोलमोल सामान्य सिद्धांतोंसे काम न चलेगा।

अच्छी तैयारीके साथ अगर अिस दिशामें प्रयत्न होने लगें तो यह व्यवहार घाटेका नहीं साबित हो सकता। अैसे लेख लिखकर, कि जिन्हें पढ़कर लोगोंको मजा आये और शिक्षा-शून्य मनोरंजन हो। कुछ पत्रकारोंने पाठकवर्गकी अभिरुचि बिगाड़ दी है। वरना अैसे वृत्त-विवेचनको, जिसमें जनताके हितकी चर्चा की गयी है, आवश्यक पारिश्रमिक दिये बिना जनता न रहेगी। फिर अखबार जेब भरनेका धंधा तो हरगिज़ नहीं

बनना चाहिये। अिन्साफ़की खातिर, धर्मकी ख़ातिर, लोक-कल्याणकी खातिर, लोकमतके खिलाफ़ जाना भी पत्रकारके लिये अुचित होता है। विदेशियोंके जुल्मका वर्णन और अुसका निषेध लोकप्रिय हो सकता है, लेकिन अगर हम सामाजिक अन्यायों और कुरीतियोंके खिलाफ़ खड़े हो जायँ तो लोग चिढ़ भी जाते हैं। खुशामदके आदी पाठक और लेखक अैसा वीरकर्म क्यों करने चले? किसी महान् अन्यायके खिलाफ़ अभिमन्यु जैसा कोअी वीर अकेला असहाय लड़ता हो तो पत्रकारको अुसकी बगलमें खड़ा रहना ही चाहिये। प्रतिष्ठाकी जाति बहुत बार सुयोग्य किन्तु प्रतिष्ठारहित मनुष्यको दबाकर रखनेकी खूब कोशिश करती है। पत्रकार अगर हिम्मतवान होगा तो वह प्रतिष्ठाकी जातिको तोड़कर भी योग्यताका पुरस्कार करेगा।

जो बात व्यक्तिकी वही संस्थाओंकी। देशमें काम करनेवाली संस्थाओंके स्वरूपकी जानकारी प्राप्त करके अुसका परिचय लोगोंको कराना और संस्थाओं सुस्त न बनें अिसलिये अुनपर पहरा देते रहना पत्रकारका ख़ास कर्तव्य है। देशमें जितना प्रत्यक्ष सार्वजनिक कार्य होता है अुसमें सहायक होना, अिसीमें वृत्तविवेचनके सभी फर्ज समा जाते हैं। वृत्तिविवेचन अगर यह फर्ज अच्छी तरह अदा करे तो अुसकी शक्ति अितनी बढ़ जाती है कि जिस तरह सरकारें और विद्यापीठ योग्यताके लिये अुपाधियाँ देते हैं अुस तरह अख़बार भी कर सकते हैं। फिर अैसी लोकमान्यताके आगे राजमान्यता तुच्छ हो जाती है।

कोअी भी विशाल और नया सवाल हाथमें लेना हो तो पहले मासिक पत्रिकाओं अुसका विवेचन करें और बादमें साप्ताहिक पत्र अुसे हाथमें लेलें। अैसा करनेसे विषय टेढ़े रास्ते नहीं जाता और काम भी नहीं बिगड़ता। दैनिक पत्रोंके लिये अितनी मर्यादा आवश्यक है कि जो आन्दोलन चल रहा होगा अुसके

बारेमें ही वे लिखें।

हमारे यहाँ दैनिक वृत्तपत्रोंका संपादकमंडल विशाल नहीं हुआ करता। बहुत बार राजा, प्रधान, सेनापति सभी अेक ही होते हैं। रोज़ अुठकर लेखपर लेख तो जनने ही पड़ते हैं। अैसी हालतमें अगर समाजको कच्चा खाना परोसा गया तो आन्दोलनमें जरूर अैब निकलेगा। हमारे यहाँ विद्याव्यासंगी लोगोंने नियमित रूपसे अखबारोंकी मदद करनेका रिवाज अभी तक ठीक ढंगसे प्रचलित नहीं किया है। जब अेक अखबारके पीछे भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंमें, विशेष योग्यता रखनेवाले लोगोंका अेक बड़ा मंडल होगा और अुसकी निरपेक्ष सेवा सतत मिलती रहेगी तभी हमारा वृत्तविवेचन पुख्ता और समृद्ध होगा। जिस तरह भगिनी निवेदिता और दीनबन्धु अैंड्रयूज़ अनेक अखबारोंके मददगार थे अुस तरह हमारे यहाँके ऐसे कअी विद्वानोंके नाम लिये जा सकते हैं जो अैसी मदद कर सकते हैं। वैसे लेखोंद्वारा कुछ लोग मदद करते होंगे, लेकिन सुझाव रखने जितना रस तो बहुत ही कम लोग लेते हैं।

अिस आक्षेपके खिलाफ़ लेखक अैसी दलील पेश कर सकते हैं कि पत्रकारोंमें विद्वान् बुजुर्गोंके वचनको मान देनेकी वृत्ति है ही कहाँ कि अुन्हें हम सलाह दें? असलमें देखा जाय तो सलाहकार या परामर्शदाता आग्रही सास बन जाय तो अुससे काम न चलेगा, और यह भी बर्दास्त नहीं किया जा सकता कि पत्रकार पंडितम्मन्य बनें। हमारा सामाजिक जीवन ख़राब हो गया है और वही हालत हमारे सार्वजनिक जीवनकी भी हुअी है। संघशक्तिसे काम करनेके नियम अभी हमारे गले नहीं अुतरे हैं। नीतिके बन्धन शिथिल करनेमें, अभिरुचिके अुच्च आदर्शोंको गिरानेमें और हर प्रकारके स्वच्छंद या स्वैराचारको रूढ़ करनेमें अब तक अख़बारोंने कोअी कसर नहीं रखी है। जहाँ देखिये

नये अखबार शुरू होते हैं, थोड़ासा जीवनकलह चलाते हैं, और ग्रेज्युअेटों (स्नातकों) के विद्याव्यासंग की तरह थोड़े ही दिनोंमें डूब जाते हैं। फिर सारा अुत्साह पक्षापक्षी या गुटबंदियों में ही रह जाता है। स्वतंत्र मौलिक कल्पनाओंका अकाल होनेपर भी प्रतिभाका दावा करनेवाला आडंबरी साहित्य अितना कुछ बढ़ गया है कि अब साहित्य-संरक्षक-मंडल की स्थापना करनेका समय आ पहुँचा है।

२

पत्रकार दो प्रकारके होते हैं। कुछ तो वे हैं जो अपने पत्र द्वारा जितनी वाङ्मयीन सेवा होती है अुतनेसे सन्तोष मानकर बैठ जाते हैं। मतीलाल घोष, रामानन्द चट्टोपाध्याय और नटराजन अिस वर्गके नमूने समझे जा सकते हैं। दूसरे वह हैं जो असली देशकार्य करते समय अपने विचारोंको प्रकट करनेके साधन के तौरपर अखबार चलाते हैं। गांधीजी, देशबन्धु, लाला लाजपतराय लोकमान्य तिलक आदि अिस वर्गके प्रतिनिधि हैं। प्रथम वर्गके पत्रकार विविधताके अुपासक होते हैं। प्रत्येकका कुछ-न-कुछ प्रमुख विषय होने पर भी वह सर्वांगी विचार-प्रचारके हिमायती हुआ करते हैं। दूसरे वर्गके लोग कार्य-परायण होनेसे जहाँ तक हो सके अेकाग्रता लाना चाहते हैं। दोनोंका अुपयोग तो है, लेकिन अिन दो आदर्शोंकी मिलावट करना उचित नहीं है। प्रथम वर्गके पत्रकार अगर चाहें तो अपने अखबारको संस्कृतिका केन्द्र बनाकर अेक सम्प्रदाय या बन्धुसमाज तैयार कर सकते हैं। पुराने जमानेमें जो काम मन्दिर करते थे अुसी काम तक पत्रकार अपने पत्रको चढ़ा सकता है। दूसरे वर्गके पत्रकार देशसेवकोंकी अडिग सेना तैयार कर सकते हैं।

पत्रकारोंका तीसरा अेक वर्ग है—तनख्वाहके खातिर चाहे जिस मतका प्रचार करनेवालोंका। अमेरिकन नीग्रोंके अेक स्कूलमें

अेक शिक्षकको नौकरीपर रखते समय विद्यार्थियोंके मांत्रापोंने अुससे पूछा था, 'क्या तुम पृथ्वी गोल है अैसा सिखाओगे, या चौकोर है अैसा ?' अुसने जवाब दिया, 'अिसमें या दूसरी किसी भी बातमें मेरा निजी तनिक भी आग्रह नहीं है, आपकी टाअुन कौन्सिल बहुमतसे जो कुछ निश्चित करेगी सो पढ़ानेके लिये मैं तैयार हूँ।' अैसे लोगोंके हाथों क्या समाजसेवा होती होगी सो तो अेक ब्रह्माजी ही जानें।

पत्रकारके अलावा अेक नया वर्ग समाजमें पैदा होनेकी जरूरत है। अपने-अपने विषयमें या क्षेत्रमें जो-जो प्रवृत्ति चल रही हो, जो साहित्य प्रगट हुआ हो, नये-नये आविष्कार हुअे हों, निर्णय किये गये हों, वाद पैदा हुअे हों, नये नये नमूनोंका जन्म हुआ हो, अुन सबका वार्षिक संग्रह (अब्द कोष) करनेका काम किसीको अपने सिरपर लेना चाहिये। सामाजिक जीवनके कअी अुपांग जरूर अैसे हैं जिनके लिये साप्ताहिक तो क्या, स्वतंत्र मासिक-पत्रिका भी नहीं चलायी जा सकती, मगर फिर भी जिनकी जानकारी मामूली अखबारोंमें यदृच्छया आ जाय और बिखरी हुअी पड़ी रहे यह नहीं हो सकता। यदि कोअी 'वार्षिक' चलाता हो तो कुछ लोग अपने विषयकी सामग्री अुसके पास अवश्य भेज दें।

साहित्यचर्चा करनेवाली नहीं, किन्तु नये-पुराने सभी प्रकारके ग्रंथोंका संक्षिप्त परिचय करानेवाली अेकाध मासिक-पत्रिकाके लिये हमारी भाषामें अवश्य स्थान है। अिस तरहकी मासिक-पत्रिका विद्यार्थियों और आम लोगोंके लिये बहुत ही कीमती साबित होगी और साहित्यका अितिहास लिखनेमें तो अुसकी सेवाका मूल्य आँकना मुश्किल ही है। यह तो बहुत लोग जानते हैं कि मेजिनीकी साहित्यसेवा अैसे प्रयत्नसे ही शुरू हुअी थी। अैसा कुछ नहीं है कि अैसी पत्रिकाओंमें सिर्फ़ अपनी

भाषाके साहित्यका ही परिचय आये। हिन्दुस्तानके दूसरे साहित्यों-को भी अुचित मात्रामें स्थान दिया जा सकता है।

सामान्य पाठक अगर अखबार और मासिक पत्रिकाओंके बाहर जाते हैं तो वह अुपन्यासोंमें अुतरनेके लिये ही। अिस तरहकी हालत जबतक अपने देशमें हैं तबतक सारी दुनियाकी जानकारी अुसके पूर्वापर-सम्बन्धके साथ देनेका प्रबन्ध लोकशिक्षा की दृष्टिसे अत्यंत आवश्यक है। दुनिया कहाँ-कहाँ फैली हुअी है, वहाँ क्या-क्या चलता है, प्रत्येक देशका दुखदर्द क्या है, दुनिया कहाँ तक आ पहुँची है अिसका ख़याल हमारे लोगोंको होना ही चाहिये। अिसमें भी हम बड़ी हदतक परावलंबी रहेंगे ही। यह अपरिहार्य है। फिर भी अपनी दृष्टिसे प्रत्येक वस्तुकी मात्रा और महत्त्व निश्चित कर लोकशिक्षाका काम शुरू तो करना ही चाहिये।

चालीस करोड़ गुलामोंके अिस राष्ट्रमें हमारा वृत्तविवेचन ज्यादातर अंग्रेज़ीमें ही चलता है। समर्थ लेखक अंग्रेज़ीकी ओर ही दौड़ते हैं। और जिनके लिये यह सारा प्रचार चल रहा है अुस जनताको अिसके फलसे वंचित रहना पड़ता है, यह कितनी शर्म की बात है! अिस शर्मकी तरफ़ हमारा ध्यान नहीं जाता। अगर ध्यान खींचा भी जाता है तो सच्ची बात गले नहीं अुतरती अिससे अधिक दयनीय स्थिति और क्या हो सकती है?

देशी भाषाओंमें जो अख़बार चलते हैं अुनके पीछे तैयारियां बहुत ही कम होती हैं। कहा जा सकता है कि पत्रकारोंके लिये अत्यंत आवश्यक जानकारी, समझमें आये अैसे रूपमें जिनमें दी हो अैसी किताबें हमारी भाषामें हैं ही नहीं। 'अिंडियन अियर बुक', 'अैन्युअल रजिस्टर', 'हूअिज हू', 'पिअर्स साअिक्लोपीडिया' 'कमर्शियल अैटलास', 'हैंडबुक आफ कमर्शियल अिन्फर्मेशन'

आदि सर्वोपयोगी सादी किताबें भी देशी भाषाओंमें अभी तक तैयार नहीं हुई हैं। अिसलिये तथा अुचित अध्ययनके अभावमें देशी पत्रिकाअें अंग्रेजी पत्रिकाओंकी केवल स्याहीचूस बन गयी हैं।

अितनी प्राथमिक तैयारी भी जहाँ नहीं है वहाँ अमुक विषय या अमुक घटनापर विश्वस्त जानकारी प्राप्त करनेके लिये खास संवाददाता भेजनेकी, या अखबारकी तरफ़से जाँच-समिति नियुक्त करनेकी बात तो दूर ही रही।

वृत्तविवेचनपर जीनेवाला और-वृत्तविवेचनको पोषण देने-का ढोंग करनेवाला अेक भयंकर रोग है 'विज्ञापन'। सार्वजनिक नीतिको भ्रष्ट करनेवाली और कौटुम्बिक अर्थशास्त्रको तोड़ डालने वाली यह बुराअी अितनी फैल गयी है कि 'नवजीवन' द्वारा गांधीजीने अुसका जो अितना सख्त और सक्रिय विरोध किया है अुसका कुछ भी असर दूसरे अखबारों पर पड़ा हुआ दिखाअी नहीं देता। जब मैं अखबारोंपर अितने हीन विज्ञापन देखता हूं तब मनमें विचार आता है, क्या प्रभु-सेवाके लिये कोअी अुत्तम देवमन्दिर बनाकर बादमें अुसका खर्च चलानेके लिये अुसके अहातेके कमरे शराबखानों और वेश्याओंको किरायेपर देने जैसा ही यह काम नहीं है?

पत्रकारका व्यवसाय या वृत्तविवेचन अपने यहाँ यूरपसे आया है। जिस तरह बच्चे अपना चारित्र्य और आदर्श बनने तक माँबाप या गुरुका अनुकरण करते हैं अुस तरह हमने अब तक विलायती 'जर्नालिज्म' का अनुकरण किया। अमेरिकन ढंग दाखिल करनेकी भी कोशिश शुरू हो गयी है। क्या अभीतक अनुकरणका ज़माना पूरा नहीं हुआ? क्या स्वतंत्र व्यक्तित्व लाने जैसा हमारे राष्ट्रमें कुछ है ही नहीं? अगर हमारे पास सांस्कारिक व्यक्तित्व है, अगर हममें अस्मिता जागृत हुअी है,

तो अुसे पहचाननेका, अुसे विकसित करनेका और प्रकट करनेका समय क्या अब नहीं आया है ? हमारा सवाल सिर्फ राजनैतिक नहीं है। अगर वह सिर्फ राजनैतिक होता तो वह कभीका सुलझ गया होता। जिस तरह दुनियाके सभी धर्म अिस देशमें अिकट्ठे हो गये हैं अुस तरह दुनियाके लगभग सभी सवाल अिस देशमें अिकट्ठे होने लगे हैं, हो गये हैं। अभी कुछ बाकी रहे होंगे तो वह भी आ जानेवाले हैं। चारों तरफ़से पानीकी बाढ़ आनेपर बेचैन और परेशान हुअे लोग जिस तरह अूँची-से-अूँची जगह खोजते हैं, अुसी तरह दुनियाके सभी सवाल, धर्म-धर्मके बीचके, जाति-जातिके बीचके, सामाजिक, आर्थिक, शिक्षासंबंधी सभी सवाल अिस देशमें अिकट्ठे होने लगे हैं और अुनकी चर्चा करनेका कर्तव्य पत्रकारोंके सिर पर आ पड़ा है। अैसा तो है नहीं कि जो पत्रकार हुआ वह विचारक भी हो गया, लेकिन अुसे हर सवालका स्वरूप और गांभीर्य ठीक-ठीक समझ तो लेना ही चाहिये और श्रेष्ठ विचारकोंने अुनके लिये क्या-क्या अुपाय सुझाये हैं या प्रयुक्त किये हैं अुनका सूक्ष्मतासे अध्ययन करनेके बाद यथाशक्ति, यथामति, अुन्हें देशके सामने पेश करना चाहिये। हमारे जीवनमें और अितिहासमें, धर्ममें और समाज़ रचनामें अुसी दिशामें क्या-क्या अुपयोगी हैं अिसकी जाँच-पड़ताल करके अुसे दुनियाके सामने रखना अुनका काम है।

यह बात आसान नहीं है। दीर्घ अध्ययनसे मनुष्यमें विद्वत्ता आ जायगी, लेकिन शुद्ध और अुच्च जीवनके बिना दिव्य दृष्टि और अडिग श्रद्धा नहीं आती। आजका जमाना ही अैसा है कि जितना मुमकिन हो, चढ़ जानेकी आवश्यकता है। शैतान लगभग सिरपर सवार हो चुका है। अुसे परास्त करनेके लिये देव-

सेनाके सज्ज होनेकी आवश्यकता है। असे अिस अवसरपर पत्रकारोंके सामने आज अेक बड़ा सवाल है कि वे कौनसा काम करें ?*

६

जीवनविकासी संगठन

आजकलका कोअी भी मनुष्य लीजिये, अुसे स्वाभाविक रूपसे ही अंदरसे अैसा लगता है कि हम अब किसी नये जमाने का, नये युगका, नये जीवनक्रमका प्रारम्भ कर रहे हैं। हम भले ही अैसा कहते आये हों कि भारतवर्ष अेक है, और हमारी सांस्कृतिक अेकता मुख्य-मुख्य बातोंमें स्पष्ट रूपसे भले ही दिखाअी देती हो, फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि आजतक हम छोटे बड़े गिरोहोंमें ही रहते आये हैं। 'विविधतामें अेकता' हमारी संस्कृतिकी खासियत है। लेकिन हमने तो विविधताको अनेकधा फैलने दिया और अेकता लाना लगभग भूल ही गये। अिसलिये समाजमें बलके होते हुअे भी हम कमजोर साबित हुअे। हम सबका रहनसहन तथा विचारप्रणाली अेक-सी होते हुअे भी हम छिन्न-भिन्न हो गये।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य अिह नानेव पश्यति।

हमारे पितरोंके पिता यमराजने कभी का कह दिया है कि जो व्यक्ति अपने जीवनमें केवल विविधताके ही पीछे पड़ता है वह जीवन-के अेक के बाद अेक क्षेत्रमें मृत्युके, क्षयके शिकंजेमें फँस जाता है। भगवान श्रीकृष्णने गीतामें भी कहा है कि 'जो ज्ञान भेदभावको पोषण देता है और विविधताको ही पहचानता

---

* अहमदाबादकी पत्रकार-परिषदमें पठित निबंध—नवंबर १९२३

है वह समाजकी प्रगतिको रोक रखता है।' फिर कुछ लोग तो वस्तुओंका तारतम्य न जानकर क्षुद्र अेकांगी वस्तुओंको ही सर्वस्व मानकर नासमझदारी करने लगते हैं। अैसे लोग समाजको अधिकाधिक नीचे ले जाते हैं। जो लोग अेक ही प्रान्तको सारा देश मानते हैं, संस्कृतिके किसी अेक अंगको ही जीवनसर्वस्व समझने लगते हैं, वह अपनी शक्तिका अुचित अपयोग नहीं कर सकते। किसी गाड़ीके सभी हिस्से-पुरजे साबुत हैं, लेकिन अगर वह अपनी-अपनी जगहोंसे खिसक गये हों या ढीले पड़ गये हों तो वह गाड़ी भला कैसे यात्रा कर सकेगी?

अेक जमाना था जब वेदोपासना, संस्कृतविद्या, भक्तिमार्ग, विरक्ति आदि महान् तत्त्वोंके बलपर हम सांस्कृतिक अेकता प्रस्थापित कर सके। लेकिन जैसे-जैसे युगोत्कर्ष होता जाता है वैसे-वैसे यह आवश्यक प्रतीत होता है कि समन्वयकारी तत्त्व अधिकाधिक व्यापक बने। परशुरामके समय ब्राह्मणसंगठन या क्षत्रिय संगठन स्वाभाविक होगा; वेदकाल में आर्यसंगठन महत्त्वका हो गया होगा; छत्रपति शिवाजी महाराज या राणा प्रतापके समय में हिन्दुसंगठन अनिवार्य हुआ होगा लेकिन आज तो अिसमें कोअी शक नहीं कि भारतीय संगठन ही अेक-मात्र युगधर्म है।

अिस तरहका संगठन अलग-अलग क्षेत्रोंमें कबका शुरू हो चुका है। अखिल भारतीय संस्थाअें तथा प्रवृत्तियाँ देशमें स्थान-स्थानपर दिखाअी देती हैं। शिक्षा और साहित्यके बारेमें तो प्रत्येक प्रान्त अेकाकी बन कर सिर्फ अपना ही विचार करता आया है। वर्तमान संस्कृतिके ब्राह्मण अर्थात् अंग्रेज लोग और अुनकी सत्ता के द्वारा बाह्य कारणों के परिणाम-स्वरूप जो अेकता हम सबपर लाद दी गयी है अुसके बारेमें यह हरगिज नहीं कहा जा सकता कि वह कोअी प्राणदायी तत्त्व है।

प्रान्तोंके लिहाज़से शिक्षाका अलग-अलग प्रबन्ध हुआ; सरकारी विद्यापीठोंकी स्थापना हुअी। अिन युनिवर्सिटियोंने भारतीय तथा प्रान्तीय जीवन और संस्कृतिको कितना प्राधान्य दिया है यह तो हम देखते ही हैं। अब अखिल भारतकी शिक्षाको अेक तंत्रके नीचे लानेका सरकारका प्रयत्न चल रहा है। अिसमें सरकारको कामयाबी मिल जाय तो भी अुससे समाज-हृदय अेक होगा या नहीं अिसमें शक है।

अगर अैसा कहा जाय कि साहित्यके बारेमें यहाँ संगठन जैसा कुछ नहीं है, तो अुसमें कोअी ग़लती न होगी। साहित्यको अेक ही रस्सीसे बाँधना या नाथना आसान नहीं। साहित्यका मुँह बंद करना सहल होता है लेकिन प्रौढ साहित्य नकेलका नाम तक बर्दाश्त नहीं कर सकता। किसी भी क्षेत्रकी बाल्यावस्थामें ही अुसके अूपर पराया अंकुश टिक सकता है।

साहित्यमें कितनी शक्ति है अिसकी अधिकाधिक प्रतीति मनुष्य जातिको होती जा रही है। साहित्य अेक प्रकारका चैतन्य है, सामाजिक तेज है; संकल्पकी अमोघ शक्तिकी सहायतासे मनुष्य चाहे जो भला-बुरा परिणाम निश्चित रूपसे ला सकता है। लेकिन यह दोधारी तलवार है। यह अेक रसायन होनेके कारण जो कोअी अिसे हज़म करेगा अुसे यह अजरामर बनायेगा; लेकिन अगर अिसका दुरुपयोग किया जाय तो यह समूल अुच्छेद किये बिना न रहेगा। अेक समय था जब लोग साहित्यका अुपयोग मोक्षसाधनके लिये करते थे। आगे चलकर सत्ताधारी और पैसेवाले लोगोंके मनोविनोदके लिये साहित्यका अुपयोग होने लगा। अिस जमानेके सम्बन्धमें देसनिकालेकी सज़ा पाये हुअे अेक जर्मन यहूदी लेखकने कहा है—

“यह समय साहित्यकलाके लिये, या साहित्यकारोंके लिये बड़ा कठिन था। समाजमें यह विचार दृढ़ हो गया था कि

साहित्यकारके मानी हैं घरमें पालने योग्य अेक गुणीजन। प्रत्यक्ष जीवनके साथ अुसका कोअी सम्बन्ध न रहता था। साहित्यकार क्रुद्ध हो या सन्तुष्ट, दोनों बातें अेकसी थीं। अुसके हथियार हवामें किये गये फ़ैर या घुमाये हुअे पट्टेकी तरह थे। साहित्य विनोदका अेक अुत्कृष्ट साधन समझा जाता था। अिससे अधिक प्रतिष्ठा अुसकी न थी।"

और साहित्यकार भी अेक बात भूल गये कि सिर्फ़ शब्दकौशल या कल्पनावैभव अुनके धंधेके लिये काफ़ी नहीं है, अुसके लिये चारित्र्यकी भी आवश्यकता है। साहित्यकलाधर यह भूल गया कि अुस-अुस समय लोगोंकी जो अभिरुचि रूढ़ हो गयी हो अुसका पोषण या अुसकी ख़िदमत करना धर्म नहीं, बल्कि सत्य, न्याय, प्रसन्नता, सौन्दर्य, स्वातंत्र्य, मानवी मन और चैतन्य; अिन सनातन और सार्वभौम जीवनतत्त्वोंकी अनन्य निष्ठासे अुपासना करना अुसका धर्म है। स्वधर्म-कर्म का भान भूल जानेके कारण वह सत्ताधारियोंके आश्रित परिवारमें गिना जाने लगा और जीवनके कठोर सत्य तथा वास्तविक परिस्थितिको भुला देना ही अुसका अेकमात्र कार्य बन गया। अिसी हेतु जनरंजन करनेवाले अनेक वर्गोंमेंसे वह अेक बन गया। अिस दुनियाके अत्यल्प मानवी जीवन-पथपर प्रकाश डालनेका कार्य छोड़कर वह अिस बातकी चिन्ता करने लगा कि समय किस तरह बिताया जाय। कलाको लोग Pastime, (या जैसा कि मद्रास की तरफ़ कहते हैं,) कालक्षेपम् समझने लगे।

अिसके परिणामस्वरूप यह धारणा फ़ैल गयी कि पंडित आश्रयके बिना शोभा नहीं देता। और अिस तरह वह वनिता और लताकी श्रेणीमें जा बैठा। जो लोग खा-पीकर आरामसे रहते हैं अुसके पास अैशो-अिशरतके लिये विपुल समय रहता है। अैसे लोगोंका दिल अूब न जाय अिसलिये क्या-क्या किया

जा सकता है अिस बातकी फ़िक्र करने का काम ही अिन कला-धरोंके लिये रह गया। मानव जीवनका बोझ अुठाकर जो बेचारे केवल भारवाही ही बने हैं अैसे पामरोंको साहित्यका आस्वाद लेने जितनी फ़ुरसत मिले भी कहाँसे? और जब कामका ही अकाल पड़ जानेकी वजहसे अैसे लोगोंको फ़ुरसतका वक्त मिलता है तब रोटीकी तीव्र चिन्ताके सामने साहित्य सूझे भी कहाँसे? भूखा आदमी व्याकरणसे पेट नहीं भर सकता, या प्यासा मनुष्य काव्यरससे अपनी प्यास नहीं बुझा सकता। सारांश, साहित्यका निर्माण तो हो गया मगर वह कृतार्थ न हुआ।

अैसे समय जिन वर्गोंने साहित्यको आश्रय प्रदान किया अुनकी मनोवृत्ति अुसमें प्रतिबिंबित हुअे बिना कैसे रह सकती है? समाजके भीषण जीवनकलहके स्वरूपको बिलकुल बदल डालकर अुसे नसीबका रूप दे दिया गया। प्रचंड धार्मिक और सामाजिक विग्रहोंको विदूषक जैसा हास्यास्पद भेरू चढ़ाकर अुन्हें नाटकोंमें अुपाख्यानोंका स्थान दिया गया और मानवी राग-द्वेषके अदम्य प्रवाहको बिलकुल क्षुद्र बनाकर किस स्त्रीने किसके साथ अभिसार किया और किसे ताली दी—अिसी के वर्णन साहित्यमें सर्वत्र दिखाअी देने लगे। सभी दगाबाज़! नाटक-कार, अभिनेता, अुनके शिक्षक और प्रेक्षक भी—सभी जालिम या जुल्मके शिकार हुअे थे।"

अिस गढ़ेमेंसे साहित्यको अूपर निकालनेके लिये जनता के कुछ सेवाधुरीण अुपासक प्रयत्न कर रहे हैं। अैसे लोकसेवक साहित्यका अन्तरप्रान्तीय संगठन करना ही हमारा मुख्य अुद्देश्य है। परायी संस्कृतिकी अेकके बाद अेक बाढ़ें आ जानेके कारण हमारे लोग अगर परेशान हो गये हों तो अुसमें कोअी आश्चर्य नहीं। लेकिन हर नयी बाढ़ अपने पानीके साथ जो

पौष्टिक मिट्टी लाती है वही चैतन्यके अंकुरके लिये सबसे अच्छा खाद बनता है। और फिर जीवनांकुर निकल आनेके बाद ही पूरी सत्रह आना फसल आ जाती है।

हमें लगता है कि हमारे देशके अितिहासमें अैसा समय अब आया है।

जब जमीन तैयार हुअी हो तब जो निर्भय होकर बीज नहीं बोता और दिलमें यह डर रखता है कि आजतक प्राणपण से सँभालकर रखे हुअे बीज जमीनमें बो दें तो वह कीचड़में पड़कर सड़ जायेंगे और अिसलिये पुरानी पूँजीकी रक्षा करनेमें ही बड़ा पुरुषार्थ है, वह आस्तिकताकी भाषामें क्यों न बोलता हो, वह वास्तवमें नास्तिक है, जीवनद्रोही है। मुर्देको सँभालकर चैतन्य-की अुपासनाका द्रोह करनेवाला है। वह मुँहसे भले ही धर्मकी जय बोलता हो, लेकिन हाथसे काम तो अैसा करेगा जिससे धर्म का अचूक क्षय हो जाय। अब तो हमें धर्मके रक्षक नहीं बनना है, किन्तु धर्मसे रक्षण प्राप्त करना है। बेशक, यह धर्म पुरानी, सड़ी-गली, या खोखली रूढ़िका नहीं बल्कि चैतन्यका सनातन धर्म होगा।

यह धर्म लेनदेन करते कभी न हिचकिचायेगा। जीनेके मानी ही हैं लेनदेन करना। जो देता और लेता है अुसपर वह जीवन-देवता प्रसन्न होता है। 'ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति।' लेकिन देनेके मानी गुलामोंकी तरह चुंगी कर, या जुर्माने के तौर पर देना नहीं हैं, और लेनेके मानी भी फेंके हुअे टुकड़े भिखारी-की तरह अुठाना नहीं हैं। दुनियामें समानभावसे सबके साथ बराबरीके व्यक्तिकी तरह रहनेकी कला आनी चाहिये। यह साम्ययोग साधनेके लिये ही आपसी सहकारकी कला हस्तगत करनेकी आवश्यकता है। हमारे देशमें प्रत्येक प्रान्तकी कुछ न कुछ खासियत होती ही है। प्रान्तीय भेद स्पष्ट दिखाअी देते हैं;

लेकिन संस्कृति तो प्रान्तोंके अनुसार अलग-अलग नहीं हुआ करती। संगीतके किसी समृद्ध और संपूर्ण रागमें जिस तरह आरोही और अवरोही स्वरोंमें भिन्नता होती है अुसी तरहकी भिन्नता हमारे विविध प्रान्तों तथा अुनके अलग-अलग वर्गोंमें है।

जिस समय राष्ट्रका आत्मविश्वास बिलकुल अुड़ गया था, अुसमें किसी तरहकी हिम्मत नहीं बची थी अुस समय कुछ लोग विदेशियोंका केवल अनुकरण करनेका अुपदेश देने लगे और कुछ अुनका विरोध करके कहने लगे कि पुराने मुर्दोंको मसाले में ढककर, अुनकी ममी बनाकर अुसकी पूजा करनी चाहिये। हमारे यहाँ यह झगड़ा बरसोंतक चला। लेकिन बादमें सच्ची जागृतिका अुदय होते ही पुरानी पूँजीपर जीनेकी या डिब्बेमें पैक होकर मिलनेवाली विदेशी खूराकपर गुजारा चलानेकी बिलकुल आवश्यकता नहीं रही। अपनी जमीन को घरका तथा बाहरका खाद देकर नयी फ़सल तैयार करना जरूरी है यह बात अक्लमंद लोगोंके मनमें बैठ गयी। कष्टपूर्वक जमीनको जोतकर ताज़ी फ़सल लेनेसे ही राष्ट्रजीवनके लिये आवश्यक सभी विटैमिन्स (जीवनसत्त्व) मिल सकते हैं अितनी सादी बात भी हमारे गले अुतरते दो पीढ़ियाँ राह देखनी पड़ी। और अिसीलिये आन्तरप्रान्तीय संगठन की जरूरत हमें आजतक न महसूस हुअी। स्वावलंबनका प्रयत्न करते समय आपसी सरकारी जरूरत मालूम होने लगती है। परावलंबन में केवल नाथ-निष्ठा पूरी तरह हो तो काफ़ी है। अब, जब कि हम निजी अनुभवका महत्त्व समझकर पराक्रम या पुरुषार्थ करने लगे हैं, अुस समय, अेकदूसरेकी सलाह लेने की जरूरत हम महसूस करने लगे हैं।

मनुष्य प्रयोगवीर न हों, अनुभवपरायण न हों तो 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' अिस तरहकी पूर्वानुसारी वृत्तिके वह आदी बन जाते हैं। अुस जमाने में हमने बाहरके गुरु बहुत

से किये लेकिन आत्म-गुरुकी शोध नहीं की।

राजनीतिमें पहले पहल सन् १८५७ अीसवीमें हमने पुराने ढंगसे अेक सीधी सादी बगावत कर देखी। अुसके बाद राज्य-कर्त्ताओंका अितिहास पढ़कर अुन्हींका अनुकरण शुरू किया। पहिले हम आशा करते थे कि लिबरल पक्षके लोग अच्छे हैं। अुन्हींके हाथों हमारा कल्याण होनेवाला है। हमें जब अनुभव हुआ कि यह आशा दुराशा है, तब हमने मजदूर-पक्षका दामन पकड़ा। अुसी जमानेमें फ्रान्स, अिटली, अमरीका आदि देशोंका अितिहास पढ़कर अुससे प्रेरणा पानेकी हमने कोशिश की। अितनेमें रशियाकी प्रगतिसे सारी दुनिया चकाचौंध हो गयी और हमें मालूम हुआ कि अुस देशमें जो क्रान्ति हुआी वह अितिहाससिद्ध शास्त्रकी मजबूत बुनियादपर खड़ी हुआी है।

गुरुमंत्र चाहे जिससे लिया जाय, लेकिन अगर वह आत्म-सात् न किया जा सके तो अुससे सामर्थ्य प्राप्ति नहीं हो सकती। साहित्यके बारेमें भी अनुकरण तथा अुधार लेनेकी कुछ मर्यादा होती है। किसी ग्रन्थका स्वभाषा में अनुवाद किया जाय और अगर लोग अुसे न समझ सकें तो अुससे क्या फ़ायदा? और समझमें आये तो भी अगर सहानुभूति न पैदा हो, वह किसीको आकर्षक न लगे, तो अुसे व्यर्थ ही समझना चाहिये। फ़र्ज़ कीजिये कि वह आकर्षक भी बन गया लेकिन अगर वह लोगोंके मानसमें प्रवेश न करे, विचारप्रणाली पर असर न करे, लोगोंके जीवनमें या अुनकी निजी भाषामें न अुतरे तो अुसे निष्फल ही समझना चाहिये। साहित्यकी शक्ति अद्भुत है, लेकिन वह रसायन जैसी है। केवल साहित्यपठनसे या दूसरों से आदर्श और अनुभव अुधार लेनेसे ज्यादा-से-ज्यादा साहित्यक्षेत्र समृद्ध हो जायगा, लेकिन अुसमेंसे जीवन-साफल्य शायद ही निष्पन्न होगा।

जब जीवन समृद्ध, व्यापक और गंभीर होगा तभी अूपरके गुण साहित्यमें उतरेंगे। शोधखोज, पराक्रम, प्रवास, व्यापार, हुनर, कलाकौशल, निरीक्षण, परीक्षण, नवनिर्मिति आदि बातोंमें जब समाज मोर्चेपर होता है, जब अुसकी महत्त्वाकांक्षा अुत्तुंग हो जाती है और कर्तव्यबुद्धि भेदक होती है तभी साहित्य जोरदार बनता है।

अिस तरहका पोषण साहित्यको अब मिलने लगा है और अिसीलिये साहित्यका अन्तर-प्रान्तीय संगठन करनेकी जरूरत आज महसूस हो रही है। अुसके लिए अुत्साह भी दिखाअी देने लगा है। वैसे देखा जाय तो यह कल्पना पचीस-तीस सालकी पुरानी है। लेकिन अगर अैसा कहा जाय कि साहित्यसंगठन करनेकी आवश्यकता अुस समय पैदा नहीं हुअी थी, तो वह गलत न होगा।

जीवनको भुलाकर, जीवनसे द्रोह करके केवल साहित्यका पोषण हमें नहीं करना है। जीवनके लिये साहित्य है। जीवनमेंसे साहित्यका अुद्गम है और साहित्यका फल भी संस्कारी तथा समर्थ जीवन ही है। विविधतामेंसे अैक्य प्रस्थापित करनेका हमारा जो जीवनमंत्र है अुसे साहित्यमें भी स्पष्ट तथा पूर्ण रूपसे व्यक्त करना है। और अिसलिये सर्वसमन्वय ही हमारा ध्यान-मंत्र है।

कुछ लोगोंको अैसा लगता है कि अनेक चीजोंकी खिचड़ी बनानेसे समन्वय हो जाता है, जब कि दूसरे कुछ लोगोंका खयाल है कि किसी अेक विशेष वस्तुका स्वीकार करके अुसका विस्तार करना और बाकीकी वस्तुओंको तिलांजलि देना ही अेकताका अेकमात्र साधन है। लेकिन यह दोनों दृष्टियाँ भूलभरी हैं। बिना विविधताके अैक्यमें कुछ अर्थ ही नहीं। विविध घटकोंका अुनका अपना स्वत्त्व अुचित मात्रामें न रखा जाय तो फिर समन्वय ही

किसका करें ? यह सही है कि स्वत्व रक्षा और समन्वय अेक दूसरेके विरोधी तत्त्व मालूम होते हैं; वह आसानीसे अेकदूसरेमें नहीं मिलते; लेकिन समाजको योग्य साधना करके यह समन्वय शक्ति अपनानी होती है। कभी भूलें होंगी, कभी पीढ़ियोंका बलिदान देना पड़ेगा; लेकिन स्वत्वरक्षा और समन्वय दोनोंकी अेक साथ अुपासना हो जाय तो अुसमेंसे जीवनके दिव्य स्फुलिंग निकले बिना कभी नहीं रह सकते। अिसीका दूसरा नाम है जीवन-रसायन।

सिर्फ खिचड़ी बनानेसे कभी कभी अनिष्ट चीजें ही पैदा होती हैं। बाजारमें सभी वस्तुअें अेकत्रित होती हैं; लेकिन दूकानको कोअी घर नहीं कहता। पुस्तकोंकी दूकानको पुस्तकालय नहीं कहा जा सकता।

जैसा कि हम अूपर कह गये हैं, जीवन ही साहित्यका क्षेत्र है। अिसलिये जीवनके सभी क्षेत्र हमारे चिन्तनके विषय हैं। लेकिन अिन क्षेत्रोंमेंसे अेक बहुत ही महत्त्वके और व्यापक क्षेत्रको हम फिलहाल जान बूझकर अलग रखनेवाले हैं। राजनीतिकी अुच्च भूमिकापरसे चर्ची जानेवाली राजनीतिकी हमारे कल्पित साहित्यमें कोअी बाधा नहीं है। लेकिन वर्तमान परिस्थितिमें यही अिष्ट है कि हम अपनी भावनाअें मौन-द्वारा व्यक्त करें। आज देशमें सबको अेकत्र लानेकी बहुत जरूरत है। धर्माभिमान, जात्यभिमान, प्रान्ताभिमान और राजनैतिक पक्षभेद आदि बातों से हमारी मनोवृत्तियाँ अितनी प्रक्षुब्ध, संकुचित और बुद्धिविमुख हो जाती हैं कि अुससे सांस्कृतिक संगठन अधिकाधिक मुश्किल हो जाता है। जहाँ दिल खोलकर बात नहीं की जा सकती वहाँ मौन रखना अच्छा है। डरते-डरते या किसीके दबावमें आकर झूठ-सचका मिश्रण करनेमें या टेढ़े ढंग से बोलनेमें सत्यका पालन नहीं है, सामर्थ्य नहीं है, तेजस्विता नहीं है और मानसिक

सन्तोष तो हरगिज़ नहीं है। और परिणाम देखते जाओ तो शून्य ! अिन सब कारणोंसे हमने अपनी प्रवृत्तिको राजनीतिसे अलिप्त रखना ही पसन्द किया है !

जहाँतक हो सके, व्यक्तिगत आलोचना भी टालनेका हमारा निश्चय है। जहाँ सभी स्खलनशील हों वहाँ कौन किसका अुपहास करे। पहला पत्थर कौन मारे ? फिर व्यक्तिगत टीका करनेसे न टीका करनेवालोंको लाभ होता है, न सुधरता है टीकाका विषय हुआ व्यक्ति। वह या तो चिढ़ जायेगा या नाअुम्मीद होकर निराश हो जायेगा। परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन अधिकाधिक नीचे गिरता जाता है अैसा सार्वत्रिक अनुभव है।

कुछ लोग कहते हैं कि साहित्य जीवनका समालोचन है। बात सही है; लेकिन अुसमें सारा सत्य नहीं आ जाता। साहित्य जीवनकी पुनर्घटना है, नवसर्जन है और कभी-कभी वह जीवन-प्रेरणा भी होता है। यह सब आदर्श हमारी दृष्टिके सामने हैं।

भारतीय साहित्य-संगठनका मुख्य कार्य तो राष्ट्रभाषाद्वारा ही चलेगा। लेकिन अुसका सन्देश अपने-अपने प्रान्तोंमें अपने-अपने ढंगसे पहुँचानेका काम प्रान्तीय भाषाओंको ही करना है। सब मिलकर अेक ही पंक्तिमें भोजन करने बैठे हों तो भी प्रत्येक व्यक्तिको अपनी भूख, स्वास्थ्य और अभिरुचिका विचार करके यह निश्चित करना पड़ता है कि क्या खाना है, कितना खाना है और किस तरह खाना है। अिसी तरह प्रान्तीय भाषाओंको करना पड़ेगा।

और सब कुछ देना हो तो भी देते समय शबरीकी तरह हर बेर अच्छी तरह देख-भालकर समर्पित करना अच्छा है। दूसरे अेक ढंगसे भी सोचा जा सकता है। हम 'महाराष्ट्रीय साहित्य' या 'भारतीय साहित्य' जैसे शब्दोंका अिस्तेमाल करते हैं। 'महाराष्ट्रीय संस्कृति', 'भारतीय संस्कृति' जैसे शब्दोंका भी हम प्रयोग

करते हैं। लेकिन साहित्य या संस्कृतिको अेकरूप बनानेका हमने कभी प्रयत्न किया है?

'मराठी बोलनेवाले सभी महाराष्ट्रीय हैं।' यह परिभाषा तो ठीक है, लेकिन मराठी बोलनेवाले हम सब अेक हैं; अेक दूसरे के हैं अिस प्रकारकी वृत्ति जागृत करनेके लिये या अुसे दृढ़ करनेके लिये क्या हमने साहित्यमें कोअी प्रयत्न किया है? अेक दूसरे की टीकाटिप्पणी करके अेक दूसरेके दोष जाहिर करके हमने अेक दूसरेकी सेवा की है अैसा शायद हम मानते होंगे, लेकिन अैसा करनेसे क्या हृदयोंका मिलन हुआ है? क्या अैसा विश्वास अेक दूसरेके मनमें पैदा हुआ है कि संकटके समय अपनी मदद के लिये कोअी-न-कोअी जरूर दौड़ आयेगा? क्या यह अर्थ हमारे यहाँ हुआ है कि 'महाराष्ट्रका अभिमान' के मानी सिर्फ 'मैं और मेरा' का ही अभिमान नहीं बल्कि सभी महाराष्ट्रियोंके प्रति अपनापन, सबके प्रति प्रेम है? अैसी भावना हो या न हो, अगर वह पैदा करनेकी धुन हो तभी भारतीय साहित्यके संगठन-की कल्पना और आस्था हममें अुत्पन्न होनेवाली है। आजका हमारा साहित्य ज्यादातर सफेदपोश श्रेणीका साहित्य है। कुछ लोग अुसे ब्राह्मणी-साहित्य कहते हैं। 'ब्राह्मण आणि त्यांची विद्या' के लेखक प्रिन्सिपल गोले की व्याख्याके अनुसार अिसमें शक नहीं कि आजका साहित्य ब्राह्मणी साहित्य है। अेक तरहसे मध्यम श्रेणीका साहित्य पराभूत या हारे हुअेका (Defeat-ist) साहित्य है। पराभूत साहित्यका अेक लक्षण यह है कि हमारे पतित देशके लिये बीच-बीचमें हाय-हाय करना, कभी दूसरोंके दोष निकालना, कभी देशकी पतित दशाको भुलानेके लिये पूर्वजोंके गुणगान करना; समय-असमयपर दूसरोंके साथ तुलना करने बैठना, और अपनेको दूसरोंके जितना यश क्यों न मिला अिसकी कारणमीमांसामें बहुत बारीकीसे अुतरना, किसीको

यश मिले तो अुसका अभिनंदन करके अुसका अनुकरण करने के बदले किन बाह्य कारणोंसे अुसे यश मिला अिसकी चिकित्सा करके यह ध्वनित करनेका प्रयत्न करना कि अैसा मौक़ा अगर हमको मिल जाता तो हमने भी अैसा ही पराक्रम कर दिखाया होता, और यश-प्राप्तिके लिये जो पुरुषार्थ करना पड़ता है, अुसके लिये जो संयम रखना पड़ता है, अुसका प्रयत्न करनेके बजाय ध्येयवाद, साधक जीवन, संयम और त्यागका अुपहास करके धूर्तताको, बकवादको ही महत्त्व देकर सभी तरहके विलासको ही जीवनसर्वस्व मानकर क्षुद्र परिस्थितिमें भी जो कुछ विलास सेवन तथा विलासचिन्तन संभव हो अुसीमें मशगूल रहना और वही स्वाभाविक है अैसा लोगोंके दिलोंमें अुतारनेका प्रयत्न करना।

ध्येयवादका भी अेक अैसा ही पराभूत (defeatist) संस्करण हुआ करता है। अुसे भी हम न भूलें। जिन्हें पुरुषार्थ नहीं करने होते अुन्हें मनोराज्य या हवाअी क़िले बनानेकी आदत पड़ती है। अैसे मनोराज्य कभी-कभी ध्येयवादका रूप धारण करते हैं और अिसलिए प्रत्यक्ष कार्यका प्रारंभ करना वह टालते हैं। हमें यह समझ लेना चाहिये कि अिस तरहका साहित्य भी पराभवी साहित्य ही है। आदर्श चित्रण कोअी आदर्श सेवन नहीं कहा जा सकता; समर्थ भक्ति कहीं सामर्थ्यकी अुपासना नहीं है। हमें होशियार या सचेत साहित्यका स्वरूप पहचानना चाहिये; जिन्दा या जीवित विचार चिन्तनकी आदत डालनी चाहिये और वैसा करनेके लिये जीवनकी ही अुपासना करनी चाहिये।

साहित्यका दावानल प्रकट करनेसे या गृहयुद्ध फैलानेसे समाज समर्थ या समृद्ध होनेवाला नहीं है। सच्ची सेवा करनी हो तो जीवनसे परिप्लुत साहित्यकी वर्षा करनेकी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये।

[नवंबर १९३६

१०

रस-समीक्षा

सहज विचार करनेसे मालूम होगा कि साहित्य, संगीत और कला तीनों भावनाके ही क्षेत्र होनेसे तीनोंके अन्दर समानेवाली वस्तु (contents) अेक ही हो सकती है, अुसे हम रस कहते हैं। साहित्याचार्योंने रसचर्चा तो अनेक प्रकारसे की है। संगीतमें यह देखा जाता है कि राग और तालके अनुसार रसमें परिवर्तन होता जाता है। चित्राकलामें नवरसके भिन्न-भिन्न प्रसंग चित्रित किये जाते हैं। रेखाओंकी सवलता द्वारा तथा वर्णोंके साहचर्यसे रस व्यक्त किये जाते हैं। मूर्तिविधान, स्थापत्य, नृत्य आदि विविध कलाओं द्वारा भी अन्तमें रसोंकी ही अभिव्यक्ति करनी होती है। लेकिन अब तक साहित्य, संगीत और कलाओंकी दृष्टिसे—अर्थात् जीवनकलाकी समस्त यानी सार्वभौम दृष्टिसे—रसका विवेचन किसीने नहीं किया है। साहित्याचार्योंने जो विवेचन किया है अुसे स्वीकार करके और अुसका संस्करण करके अुसे व्यापक बनानेकी जरूरत है।

यह जरूरी नहीं है कि पूर्वाचार्योंने जिन नौ रसोंका वर्णन किया है अुनके वही नाम और अुतनी ही संख्या हम मान लें। अब अिस बातकी स्वतंत्रतापूर्वक मीमांसा होनी चाहिये कि संस्कारी जीवनमें कलात्मक रस कौन-कौन-से हैं।

हमारे यहाँ शृंगारको रसराज कहा गया है। अुसे अग्रपूजाका मान है। लेकिन वास्तवमें वह सर्वोच्च रस नहीं कहा जा सकता। प्राणीमात्रमें नर-मादाका अेक दूसरेके प्रति आकर्षण होता है। प्रकृतिने अिस आकर्षणको अितना अधिक अुन्मादकारी बना दिया है कि अुसके आगे मनुष्यकी सारी होशियारी, सारा संयम और सब विवेक नष्ट हो जाता है। हम

यह सवाल यहां न छेड़ें कि अिस आकर्षण को अुत्तेजन देना आवश्यक है या नहीं। पर अिस आकर्षण और प्रेमके वीच जो सम्बन्ध है अुसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। पहले हमें अिसका निश्चय कर लेना चाहिये कि नर-मादाके आपसी आकर्षणमें अेक-दूसरेके प्रति यथार्थमें प्रेम होता है या अहंप्रेम (self-love) की तृप्तिके साधनरूप ही वह अेक-दूसरे की तरफ़ देखते हैं। प्रकृतिकी रचना कुछ ऐसी है कि काम-वासना का प्रारंभ अहंप्रेमसे होता है। लेकिन अगर यह काम धर्ममार्गसे चले तो वह विशुद्ध प्रेम में परिणत हो जाता है। विशुद्ध प्रेममें आत्मविलोपन, सेवा और आत्मबलिदानकी ही प्रधानता रहती है। कामको विकार कहा गया है; प्रेमको कोअी विकार नहीं कहता, क्योंकि अुसके पीछे हृदयधर्मकी अुदात्तता होती है। यहां धर्मके मानी रूढ़िधर्म या शास्त्रधर्म नहीं किन्तु आत्माके स्वभावके अनुसार प्रकट होने वाला हृदय-धर्म है।

शृंगार मूलतः भोगप्रधान होता है। लेकिन हृदय-धर्मकी रासायनिक क्रियासे वह भावना-प्रधान वन जाता है। यह रसायन और परिणति ही काव्यका, कलाका विषय हो सकती है। प्राचीन नाट्यकारोंने जिस तरह नाटकोंमें रंगमंचपर भोजनका दृश्य दिखलानेका निषेध किया है अुसी तरह भोगप्रधान शृंगार चेष्टाओंको भी खुल्लमखुल्ला वतलानेकी मुमानियत कर दी है। यह तो कोअी नहीं कह सकता कि नाट्यशास्त्रकारोंको खाने-पीनेसे या रतिसुखसे घृणा थी। देह-धर्मके अनुसार अिन वस्तुओंके प्रति स्वाभाविक आकर्षण तो रहेगा ही, पर वैसी घटनाअें और वैसे आकर्षण कलाका विषय नहीं हो सकते। यह कहनेके लिये कि कलाकृतिमें अुस वस्तुको स्थान नहीं होना चाहिये किसी प्रकारकी वैराग्यवृत्तिकी आवश्यकता नहीं है। अुसके लिये सिर्फ़ संस्कारिता हो तो काफ़ी है। मध्य-यूरपके अेक मित्रने

'पहले महासमर' के बादकी यूरपकी गिरी हुआी हालतका वर्णन करते हुअे लिखा था कि 'हमारे यहां अब भोजनके आनन्दपर भी कविताअें लिखी जाने लगी हैं।' यूरपके अच्छे-अच्छे कला-रसिक, जो अिस दोषसे अूब गये हैं। हमारे नाट्यशास्त्रमें शृंगार-चेष्टाओंके प्रति संयम रखनेका जो सुझाव रखा गया है, अुसका अब वे स्वागत करने लगे हैं।

प्रेमरसका शुद्ध वर्णन हमें भवभूतिके 'अुत्तररामचरित्र' में मिलता है। 'शाकुन्तल' में प्रेमका प्राथमिक शृंगारिक स्वरूप भी है और अन्तका परिणत विशुद्ध रूप भी। वास्तवमें देखा जाय तो प्रेमको ही रसराजकी अुपाधि मिलनी चाहिये। शृंगारको तो केवल अुसका आलम्बन-विभाव कहा जा सकता है। शृंगारके वर्णनसे मनुष्य की चित्तवृत्तिको आसानीसे अुद्दीपित किया जा सकता है! अिसीलिये सब देशों और सब ज़मानेमें कलामात्रमें शृंगारको प्रधानता प्राप्त हुआी दिखाअी देती है। जैसे ऋतुओंमें वसन्त, वैसे रसोंमें शृंगार अुन्मादकारी होता ही है। जिस तरह लोगोंकी या व्यक्तिकी खुशामद करके बातचीतका रस बड़ी आसानीसे निभाया जा सकता है अुसी तरह शृंगार-रसको जागृत करके बहुत थोड़ीसी पूँजीपर कलाकृतियोंको आकर्षक बनाया जा सकता है।

सच्चे प्रेमरसमें अपने व्यक्तित्वको भुलाकर दूसरेके साथ तादात्म्य का अनुभव करना होता है। अिसीलिये प्रेमरसमें आत्म-विलोपन और सेवाकी प्रधानता होती है। प्रेम आत्माका गुण है, अिसीलिये वह देहपर विजय प्राप्त करता है। प्रेम ही आत्मा है। सभी प्रेमियों, भक्तों और वेदान्ती दर्शनकारोंने यह बात स्पष्ट कर दी है कि अमर प्रेमसे आत्मा भिन्न है ही नहीं। वीररस भी अपने शुद्ध रूपमें आत्मविकासका ही सूचन करता है। सामान्य स्वस्थ स्थितिमें मनुष्य अपने आत्मतत्त्वकी

अुत्कटताका अनुभव नहीं करता। क्योंकि वह देहके साथ अेकरूप होता है। लेकिन जब असाधारण अवसरके कारण खरी कसौटीका वक्त आ जाता है तब मनुष्य अपने शरीरके बन्धनों से अूंचा चढ़ता है। अिसीमें वीररसकी अुत्पत्ति है।

प्रतिपक्षीका द्वेष, अुसके प्रति क्रूरता, अुसके विरुद्ध अहंकारका प्रदर्शन आदिमें वीररस समाया हुआ नहीं है। लोक-व्यवहारमें कअी बार यह सब हीन भावनाअें वीरकर्ममें मिली हुअी होती हैं। वैसा होना कभी-कभी अपरिहार्य भी हो जाता है। लेकिन यह जरूरी नहीं कि साहित्यमें अुन्हें स्थान हो ही। साहित्य वास्तविक जीवनका कोअी संपूर्ण फ़ोटोग्राफ नहीं हुआ करता। साहित्यमें वही चीज़ें लानी होती हैं जिनकी तरफ़ ध्यान खींचना आवश्यक हो। अिष्ट वस्तुको आगे लाना और अनिष्ट वस्तुओंको दबा देना साहित्य और कलाकी आत्मा है। अिस पुरस्कार और तिरस्कारके बिना कलाकी संभावना ही नहीं होती। वीररसके लिये जो कुछ हानिकर हो अुसे साहित्यमेंसे निकाल देना चाहिये। तभी वह साहित्य कलापूर्ण होगा।

लोक-व्यवहार में वीररस अमुक आर्यता चाहता ही है। पशुओंमें शौर्य होता है पर वीर्य नहीं होता। जानवर जब जोश में आकर आपेसे बाहर हो जाते हैं तब वे आपसमें अंधाधुंध लड़ पड़ते हैं। लेकिन अुनमें डरका तनिक भी प्रवेश हो जाय तो दुम दबाकर भागनेमें अुन्हें देर नहीं लगती। भयकी लज्जा तो वह जानते ही नहीं। भयकी लज्जा आत्माका गुण है। जानवरोंमें वह नहीं हुआ करती। आवेश हो या न हो; तीव्र कर्तव्य-बुद्धिके कारण अथवा आर्यत्वके विकसित होनेसे मनुष्य भयपर विजय प्राप्त करता है। आलस्य, सुखोपभोग, भय, स्वार्थ अिन सबको त्यागकर, चमड़ी बचानेकी वृत्तिसे मुक्त हो, आत्म-बलिदान के लिये जब मनुष्य तैयार हो जाता है तब वह जड़

पर–अपनी देहपर विजय प्राप्त करके आत्मगुणका अुत्कर्ष वताता है। अैसा वीर-कर्म, अैसी वीर-वृत्ति देखने या सुननेवालेके हृदयमें भी समान भाव-समभाव को जागृत करती है यही वीर-रसका आकर्षण और सफलता है।

. वीरोंका वीरकर्म देखनेके वाद–हमारी वाजू में वीर या वीर-समूह खड़ा है अिसलिये हम सही-सलामत हैं, अब भयका कोअी कारण नहीं—अिस तरहका सन्तोष भी दुर्वलों तथा अवलाओंको मिलता है। अिसे वीर-रसका कोअी सर्वोच्च परिणाम या फल नहीं कहा जा सकता।

जिस ज़मानेमें मनुष्य अपनी देहका मोह करनेवाला, फूँक-फूँककर क़दम रखनेवाला और घर-घुसा वन जाता है अुस ज़माने में वह वीरोंका वखान करके, अुन्हें अुभाड़कर या अुनकी वहादुरीकी तारीफ़के पुल वाँधकर अुनके हाथों अपने लिये सुरक्षा प्राप्त करता है। अैसोंके समाजमें वीररसकी, वीरकाव्यकी, जो चाह होती है,प्रतिष्ठा होती है अुस परसे यह न समझ लिया जाय कि अुस समाजमें आर्यत्वका अुत्कर्ष होने लगा है। जव वंवअीमें लोकमान्य तिलकपर मुक़द्दमा चल रहा था तव वहांके मिल-मज़दूरोंने वड़ा दंगा किया था। अुनका वह तूफ़ान देखकर मध्यम वर्ग तथा व्यापारी वर्गके कअी लोग घरोंके अन्दर छिप वैठे। जव अुस आन्दोलनका दमन करनेके लिये सरकारी फ़ौज आयी तव अुसे देख वही लोग मारे खुशीके हुर्रे-हुर्रे की जयध्वनि करने लगे और अपने हाथोंके रूमाल अुछालने लगे। फौजके अुन वीरोंका स्वागत-सम्मान करते समय अुनके मुँहसे जो वीर-गान निकला अुससे यह नहीं कहा जा सकता कि अुस समाजके वीरत्वकी वृद्धि हुअी। यह आंखों देखी घटना है, अिसलिये अुसका असर दिलपर कायम रह गया है।

वीर-रसकी क़द्र अगर वीर करें तो वह अेक वात है,

और रक्षण या आश्रय चाहनेवाले करें तो वह दूसरी बात है। वीर हमेशा वीररसको शुद्ध रखनेकी फ़िक्र रखता है जब कि आश्रयपारायण लोग प्राण-त्राण-पेलव होनेसे आर्य-अनार्य-वृत्तिका विवेक रखे बिना रक्षणकर्ताके प्रति नाय-निष्ठा रखकर अुसके सभी गुणदोषोंको अुज्ज्वल रूपमें ही देखते हैं।

वीरवृत्तिसे ही वैरवृत्ति जागृत होती है। अिसका कोअी अिलाज न देखकर आर्य-धर्म-कारोंने अिसकी मर्यादा बाँध दी है कि 'मरणान्तानि वैराणि'। शत्रुके मर जानेके बाद अुसकी देहको लात मारना, अुसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े करना, अुसके आश्रितोंको सताना, अुनकी स्त्रियोंको अपना बनाना, यह सब अेक आर्यवीरके लिये शोभा देनेवाला नहीं है। वीर पुरुषोंने यह देख लिया था कि अिस तरहके बर्तावसे मरे हुअे शत्रुका अपमान नहीं होता बल्कि अपने वीरत्वको ही बट्टा लगता है। आर्य साहित्याचार्यों, कवियों और कलाकारोंने यह कह रखा है कि अगर दुश्मनी करनी हो तो अैसे आदमीके साथ करो जो अपने लायक हो, और अुसे हरानेके बाद अुसकी क़द्र करके अुसकी प्रतिष्ठा को बनाये रखो और अिस तरह अपना गौरव बढ़ाओ।

वीरवृत्तिका परिचय मनुष्यके ही विरोधमें नहीं दिया जाता बल्कि सृष्टिके कुपित होनेपर भी मनुष्य अपनी अुस वृत्तिको विकसित कर सकता है। जब मेरा शत्रु तलवार निकालकर मेरे सामने खड़ा हो तब केवल आत्मरक्षाकी दृष्टिसे भी मुझे अपनी सारी शक्तिको अेकत्रित करके अुसका मुक़ाबला करना पड़ता है। अुस वक्त अगर मैं लड़ाकू वृत्ति न रखूँ तो जाअूँ कहाँ? सिंहगढ़की दीवारपर चढ़कर अुदयभानुके साथ संग्राम करनेवाली तानाजीकी फ़ौज जब हिम्मत हारने लगी तब ताना-जीके मामा सूर्याजीने दीवारपरसे नीचे अुतरनेकी रस्सियाँ काट

डालीं। अमरीका पहुँचनेके वाद स्पेनिश वीर हर्नेन्डो कॉर्टेज़ ने अपने जहाज़ जला दिये। अिस तरह पीठ फेरना ही जब असंभव हो जाता है तब आत्मरक्षाकी वृत्ति वीरवृत्तिकी मदद करने आती है, और जिसे अपनी जान ज्यादा प्यारी होती है वही अैसे मौक़ेपर अधिक शूर बन जाता है।

लेकिन जब कोअी आदमी पानीमें डूब रहा हो या जलते हुअे घरके अन्दरसे किसी असहाय बच्चेकी चीख़ सुनाअी दे रही हो तब अपनी सलामतीका, जानके ख़तरेका तनिक भी खयाल किये बग़ैर कोअी तेजस्वी पुरुष हृदय-धर्मसे वफ़ादार रहकर पानी या आगमें कूद पड़ता है तब वह वीरवृत्तिका परम अुत्कर्ष प्रकट करता है। जो व्यक्ति माफ़ी माँगकर जीनेकी अपेक्षा फाँसीपर लटकना ज्यादा पसन्द करता है, या करोड़ों रुपयोंकी लालचके वशमें न होकर केवल न्यायबुद्धि को ही पहचानता है वह भी अलौकिक वीरत्वका ही परिचय देता है। सारी दुनियाका चाहे जो हो जाय, पर अन्तरात्माके नादसे तो मैं हरगिज़ बेवफ़ा न होअूंगा—अिस तरहकी धीरवृत्ति जिसके लिये स्वाभाविक होती है वह वीरेश्वर ही है।

किसीकी बहू-बेटी या स्त्रीका अपहरण करते समय भी कअी गुंडे-बदमाश विकारके वश होकर असाधारण बहादुरी दिखाते हैं। बड़े-बड़े डाकू भी जान हथेलीपर रखकर घरोंमें सेंध लगाते हैं या लूटमार मचाते हैं, और पकड़े जानेपर पुलिसके आदमी अुनपर प्राणान्तिक यमयातना ढा दें तो भी अपने षड्यन्त्रका भेद नहीं बताते। अुनकी यह शक्ति लोगोंमें आश्चर्य और तारीफ़के भाव जरूर पैदा कर सकती है, लेकिन प्रामाणिक लोगोंका धनहरण या परस्त्रीका अपहरण करने की नीचातिनीच वृत्तिसे प्रेरित बहादुरीकी कोअी आर्यपुरुष क़द्र नहीं कर सकता। कुछ डाकू बड़े-बड़े डाके डालकर प्राप्त होने वाले धनका अेक भाग

अासपासके प्रदेशके ग़रीब लोगोंमें बाँट देते हैं और अिस तरह लोकप्रिय बनकर अपनेको पकड़ने की कोशिश करनेवालों के छक्के छुड़ा देते हैं। कभी-कभी अैसे डाकू और लुटेरे प्रख्यात समाज कंटक लोगोंका नाश करके, अुनका सर्वस्व लूटकर ग़रीबोंको भयमुक्त करते हैं। इसलिये भी कृपण जनता अैसे लोगोंकी सामान्य दुष्टताको भूलकर अुसके गुणोंका बखान करने लगती है। यह सब चाहे जितना स्वाभाविक क्यों न हो, फिर भी अैसा नहीं कहा जा सकता कि अिससे समाजकी अुन्नति होती है। श्रीरामचन्द्रजीकी यह अुक्ति कि 'पाल्या हि कृपणा जनाः' प्रजाके गौरव को नहीं बढ़ाती। जिससे लोक हृदय अुन्नत नहीं होता अैसी कृतिमेंसे शुद्ध वीररस निकलता है अैसा नहीं कहा जा सकता। सिर्फ़ हिम्मत और सरफ़रोशी वीररस नहीं है और शत्रुको बेरहमीसे अंगभंग करनेमें, अुसके आश्रितोंकी बेअिज्जती करनेमें वैरवृत्तिकी तृप्ति भले ही हो, लेकिन अुसमें न शूरता है, न वीरता; फिर आर्यता कहाँसे होगी?

जो आदमी युद्ध करने जाये अुसमें खून, मांस और शरीरके छिन्न-भिन्न अवयवोंको देखनेकी आदत तो होनी ही चाहिये। दुःख और वेदना—अपनी हो या परायी—सहन करनेकी शक्ति अुसमें होनी ही चाहिये। शस्त्रक्रिया करनेवाले डाक्टरोंमें भी अिस शक्तिका होना आवश्यक है। समझमें नहीं आता कि खूनकी धारको देखकर कुछ लोगोंको चक्कर क्यों आ जाता है। ख़ुद मुझे मांस कटता देख या शस्त्रक्रिया देखते समय किसी क़िस्मकी बेचैनी महसूस नहीं होती। फिर भी जब मैं वीररस के वर्णनके सिलसिलेमें रणनदीके वर्णन पढ़ता हूँ तब अुसमेंसे बग़ैर जुगुप्साके दूसरा भाव पैदा नहीं होता। यह तो मैं समझ ही नहीं सकता कि खूनके कीचड़ और अुसमें अुतरते हुअे नररुण्डोंके वर्णनसे वीररसको किस तरह पोषण मिलता है।

युद्धमें जो प्रसंग अनिवार्य है अुनमेंसे मनुष्य भले ही गुजरे, लेकिन जुगुप्सा पैदा करनेवाले प्रसंगोंका रसपूर्ण वर्णन करके अुसीमें आनन्द माननेवाले लोगोंकी वृत्तिको विकृत ही कहना चाहिये। मनुष्यको खंभेसे बाँधकर, अुसपर कोलतारका अभिषेक कराके अुसे जला देनेवाले और अुसकी प्राणान्तिक चीखें सुनकर सन्तुष्ट होनेवाले बादशाह नीरोकी बिरादरीमें हम अपना शुमार क्यों करायें?

वीर-रस मानवद्वेषी नहीं है। वह परम कल्याणकारी, समाज-हितैषी और धर्मपरायण आर्यवृत्तिका द्योतक है और अुसे वैसे ही रखना चाहिये। वीररसका पोषण और संगोपन वीरोंके ही हाथमें रहना चाहिये। वीरवृत्तिको पहचाननेवाले कवि, चारण, और शायर अलग होते हैं और अपनी रक्षाकी तलाशमें रहनेवाले कायर तथा आश्रित अलग।

पुराने जमानेकी वीरकथाअें हम जरूर पढ़ें, आदरके साथ पढ़ें, लेकिन अुनमेंसे हम पुरानी प्रेरणा न लें, हीन सन्तोष हमें त्याज्य ही लगना चाहिये। जीवनके वीर्यका नया आदर्श स्वतंत्र रूपसे विकसित करके अुसके लिये आवश्यक पोषक तत्व पुरानी वीरकथाओंमेंसे जितने मिल सकें अुन्हें चुन-चुनकर हम जरूर अिस्तेमाल करें। लेकिन वीररसके पुराने, क्रूर या जीवनद्रोही आदर्शोंमें हम फिसल न जायँ। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि अगर जीवनमेंसे वीरता चली गयी तो वह अुसी क्षणसे सड़ने लगेगा और अन्तमें अेक भी सद्‌गुण न बच पायेगा।

वर्तमान युगके कलाकारोंके अग्रणी श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरको अेक बार जापानमें अेक अैसा स्थान दिखाया गया जहाँ दो वीर लड़ते-लड़ते कट मरे थे। अुस स्थान और अुस घटनापर अपनी प्रतिभाका प्रयोग करके कोअी कविता लिखनेके लिये अुनसे कहा गया। कविवरने वहाँ जो दो चरण लिख दिये वह

भारतवर्षके सिरशान तथा मानवजातिके भविष्यको शोभा देनेवाले थे। अुनका भाव यह है कि, "दो भाअी गुस्सेमें पागल होकर अपनी मनुष्यताको भूल गये और अुन्होंने धरती माताके वक्षःस्थलपर अेक-दूसरेका खून बहाया। प्रकृतिने यह देखकर ओसके रूपमें आँसू बहाये और मनुष्यजातिकी अिस रक्तिरंजित लज्जाको हरी-हरी दूबसे ढाँक दिया।"

शान्तिप्रिय, अहिंसापरायण, सर्वोदयकारी, समन्वयप्रेमी संस्कृतिका वीररस त्यागके रूपमें ही प्रगट होगा। आत्मविलोपन, आत्मबलिदान ही जीवनकी सच्ची वीरता है। अुसके असंख्य भव्य प्रसंग कलाके वर्ण्य विषय हो सकते हैं। अैसे प्रसंग कलाको अुन्नत करते हैं और जनता को जीवन-दीक्षा देते हैं। मैंने अभी अिस बातकी जाँच नहीं की है कि आजके कलाकार अिस पहलूको विशेष रूपसे विकसित करते हैं या नहीं; लेकिन अितना तो मैं जानता हूं कि अगर भविष्यकी कला अुस दिशामें गयी तो निकट भविष्यमें वह असाधारण प्रगति कर सकेगी और समाज सेवा भी अुसके हाथों अपने आप होगी।

जब भवभूतिने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि 'रस अेक ही है, और वह है करुणरस; वह अनेक रूप धारण करता है,' तब अुसने करुण शब्दको अुतना ही व्यापक बनाया जितना कि कला शब्द है। हृदय कोमल बने, अुन्नत बने, सूक्ष्मवेदी बने या अुदात्त बने वहाँ कारुण्यकी छटा तो आयेगी ही। कारुण्य-की समभावना या समवेदना सार्वभौम है, अुसके द्वारा हम विश्वात्मैक्य तक पहुँच सकते हैं। करुणरस सचमुच रससम्राट है। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि करुणरस में शोककी भावना होनी ही चाहिये। वात्सल्यरस, शान्तरस और अुदात्तरस करुणाके जुदे-जुदे पहलू हैं। जिस तरह नदियाँ सागर में जा मिलती हैं अुस तरह अन्य सब रस अंतमें जाकर करुण रसमें

विलीन हो जाते हैं। अिन सब रसोंके लिये अेक मित्रने नाम सुझाया है, 'समाहित रस', अर्थको देखते हुअे यह नाम बिलकुल ठीक मालूम होता है। लेकिन भाषामें यह सिक्का चल सकेगा या नहीं अिसमें शक है। वास्तवमें देखा जाय तो सभी रसोंकी परिणति योगमें ही है। योग अर्थात् समाधि-समाधान-साम्यावस्था सर्वात्मैक्यभाव। कलामेंसे अंतमें यही बात निकलेगी। कलाका साध्य और साधन यह योग ही है। दुर्भाग्यकी बात है कि योगका यह व्यापक अर्थ आजकी भाषामें स्वीकार नहीं किया जाता। नाक पकड़कर, पलथी मारकर, बड़ी देर तक नींद लेना और भूखों मरना ही लोगोंकी दृष्टिमें 'योग' रह गया है!

हमारे साहित्यकारोंने करुणरसका बहुत सुन्दर विकास किया है। कालिदासका 'अजविलाप' या भवभूतिका 'अुत्तररामचरित्र' करुणरसके अुत्तम नमूने माने जाते हैं। भवभूति जब करुणरसका राग छेड़ता है तब पत्थर भी रोने लगते हैं और वज्रकी छाती भी पिघलकर चूर-चूर हो जाती है। करुणरस ही मनुष्यकी मनुष्यता है। फिर भी यह जरूरी नहीं कि करुणरसका अुपयोग केवल स्त्री-पुरुष के पारस्परिक विरह-वर्णनमें ही हो। माँ अपने बच्चेके लिये विलाप करे तो अुतनेसे भी करुणरस का क्षेत्र पूरा नहीं होता। अनन्त कालसे हर जमाने में, और हर मुल्कमें, हर समाजमें और हर कारणसे महान् सामाजिक अन्याय होते आये हैं। हजारों-लाखों लोग अिन अन्यायोंके शिकार होते आये हैं। अज्ञान, दारिद्र्य, अुच्चनीचभाव, असमानता, मत्सर, द्वेष, लोभ आदि अनेक कारणोंसे तथा बिना कारण भी मनुष्य मनुष्यको सताता है, गुलाम बनाता है, चूसता है और

अपमानित करता है। यह सब घटनाअें करुणरस के स्वाभाविक क्षेत्र हैं।

नल राजाके हंसको पकड़ने या अेकाध सिंहके नन्दिनी गायको धर दबोचने का दुःख हमारे कवियोंने गाया है। कोअी निषाद क्रौंचपक्षीके जोड़ेमेंसे अेकको बाणसे विद्ध करता है तो वाल्मीकिकी शापवाणी सारी दुनियाके हृदयको भेदकर अिस अन्यायकी तरफ़ अुसका ध्यान खींचती है। फिर भी मनमें अैसा नहीं लगता कि पशुपक्षियोंका या गायभैंसका दुःख अभी किसीने गाया है। मध्यम वर्गके लोग विधवाओंके दुःखोंका कुछ वर्णन करने लगे हैं। लेकिन अुसमें भी भवभूतिका ओज़ोगुण या वाल्मीकिका पुण्य प्रकोप प्रकट नहीं हुआ है। करुणरसका असर जितना होना चाहिये अुतना नहीं हुआ है। अिसलिये हृदयकी शिक्षा और हृदयधर्मकी पहचान अधूरी ही रही है। और अिसीलिये गांधीजी जैसे व्यक्ति अस्पृश्यताके कारण अपने हृदयका दर्द व्यक्त करते हैं तो भी सामाजिक हृदय अधिकांशमें अस्पृष्ट ही रहता है। करुणरससे सिर्फ़ हृदय पिघले तो अुतना काफी नहीं है। अुससे हृदय सुलग अुठना चाहिये और जीवनमें आमूलाग्र क्रांति हो जानी चाहिये। जीवनके प्रत्येक व्यवहारके लिये हृदयधर्ममेंसे मनुष्यको अेक नयी कसौटी तैयार करनी चाहिये।

अगर यह कहा जाय कि प्राचीन लोगोंको हास्य-रसकी यथार्थ कल्पना तक नहीं थी, तो अुसमें ज्यादा अतिशयोक्ति नहीं है। नर्म वचन और सुन्दर चाटूक्तियाँ तो संस्कृत साहित्यमें जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी हैं; हमारी संस्कारिताकी वह विशेषता है। लेकिन अूँचे दर्जेका हास्यरस अुसमें बहुत ही कम पाया जाता है। अब हमारे साहित्यमें हास्यरसने अनेक सफल प्रयोग किये हैं सही। फिर भी यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि

नाटकोंमें पाया जानेवाला हास्यरस बहुत ही सस्ता और साधारण कोटिका है। हमारे व्यंग्यचित्रों (cartoons) और प्रहसनोंमें पाया जानेवाला हास्य-रस आज भी बहुत निम्न-श्रेणीका है। पाठशालाके प्रीति-सम्मेलनोंमें हास्य और वीर दो ही रसोंको ज्यादा तरजीह दी जाती है। अिसका कारण यही है कि बिना ज्यादा मेहनत किये अुनमें सफलता मिलती है; अनायास तैयारी हो जाती है और तालियां भी ज्यादा-से-ज्यादा मिलती हैं। लेकिन अिससे कलाकी प्रगति नहीं होती और जनता भी संस्कार-समर्थ नहीं बनती।

मैं नहीं जानता कि हमारे कलाकारोंने अद्‌भुत-रसका परिपोष किन-किन तरीकोंसे किया है। पर मेरे अभिप्रायमें अद्‌भुत-रसकी अुत्पत्ति भव्यता (sublimity) मेंसे होनी चाहिये। वरना मनुष्यका अज्ञान जितना अधिक होगा अुतनी अुसे हर चीज़ अधिक अद्‌भुत मालूम होगी। अद्‌भुतका स्वरूप ही अैसा है कि अुसके आगे कलाका सामान्य व्याकरण स्तंभित हो जाता है। विजयनगरके आसपासके पहाड़ोंमें बड़ी-बड़ी शिलाओंके जो ढेर पड़े हैं अुनमें किसी तरहकी व्यवस्था या समरूपता तो तनिक भी नहीं है। लेकिन वहाँ तो अुसकी कुछ ज़रूरत ही नहीं मालूम होती। सरोवरका आकार, बादलोंका विस्तार, नदीका प्रवाह—अिनमें क्या कोअी किसी खास व्यवस्थाकी अपेक्षा रख सकता है? भव्य वस्तु अपनी भव्यतासे ही सर्वाङ्ग परिपूर्ण हो जाती है। नहरका व्याकरण नदीके लिए लागू नहीं होता; अुपवनका रचनाशास्त्र महाकान्तारके लिये अुपयोगी नहीं होता। जो कुछ भी भव्य, विस्तीर्ण, अुदात्त और गूढ़ है वह अनन्तका प्रतीक है और अिसीलिये वह अपनी सत्तासे परम-रमणीय है। महाकवि तुलसीदासजीने जो कहा है कि 'समरथको नहिं दोष गुसाओीं' वह नये अर्थमें यहाँ

कलाके सूत्रके तौरपर ही अधिक सुसंगत मालूम होता है।

अद्भुत, रौद्र और भयानक तीनों रसोंका अुद्गम अेक ही होता है। हृदयकी भिन्न प्रतिभूतियाँ (Responses) के कारण ही अुनके अलग-अलग नाम पड़े हैं। जब शक्तिके आविर्भावसे हृदय दब जाता है, लज्जा खो बैठता है तब भयानक रसकी निष्पत्ति होती है। किसी अूँची और लटकती हुई कगारके नीचे जब हम खड़े रहते हैं तब हम यक़ीनके साथ जानते हैं कि यह शिलाराशि हमारे शिरपर टूट पड़नेवाली नहीं है, अुलटे आँधी-तूफानसे वह हमारी रक्षा ही करेगी। फिर भी अगर वह कहीं गिर पड़े तो!—अितना खयाल मनमें आते ही हम दब जाते हैं। यह भी अेक शक्तिका ही आविर्भाव है। पर्वत-प्राय सागर-लहरोंपर सवार होकर सफ़र करनेवाले जहाजमें बैठे-बैठे हम इसी भावका दूसरी तरहसे अनुभव करते हैं।

भव्य वस्तुके साथ मनुष्य हमेशा अपनी तुलना करता ही रहता है। यह तुलना करते-करते जब वह थक जाता है तब आप-ही-आप रौद्ररस प्रगट होता है। और जहाँ भव्यताकी नवीनता और अुसका चमत्कार मिट नहीं गया है वहाँ अद्भुत रसका परिचय मिलता है। यह तीनों रस मनुष्यकी संवेदन-शक्तिपर आधारित हैं। हम नहीं जानते कि आकाशके अनन्त तारोंको देखकर जानवरोंको कैसा लगता होगा। बालकोंको तो वह अेक पालनेके चँदोवेकी तरह मालूम होता है। लेकिन वहाँ अेक प्रौढ़ खगोलशास्त्रीको तो नित्य-नूतन और वर्धमान अद्भुत रसके विश्वरूप-दर्शनके समान लगता है। अद्भुत रसकी खूबी यह है कि जिस तरह मेघका गर्जन सुनकर सिंहको गर्जना करनेकी अिच्छा होती है अुसी तरह आर्य हृदयको भव्यताका दर्शन होते ही अपनी विभूति भी अुतनी ही विराट, अुदात्त

और भव्य करनेकी अिच्छा हो अुठती है। अद्‌भुत रसमें मनुष्यकी आत्मा अपनेको अद्‌भुततासे भिन्न नही मानती, बल्कि अेक तरहसे अुसमें वह अपना ही प्राकट्य देखती है; लेकिन रौद्र या भयानकमें वह अपने को भिन्न ही मानती है। जिसने अिन दोनों वृत्तियोंका अनुभव किया है अैसे कलाकारने अेका-अेक घोषित किया कि शिव और रुद्र अेक ही हैं; शान्ता और दुर्गा अेक ही हैं। जो महाकाली है वही महालक्ष्मी और महासरस्वती भी है। श्री रामचन्द्रजीका दर्शन होते ही हनुमानजी के भक्तहृदयने स्वीकार कर लिया —

"देहबुद्‌ध्या तु दासोऽहम् जीवबुद्‌ध्या त्वद्‌अंशकः।
आत्मबुद्‌ध्या त्वमेवाऽहम्; यथेच्छसि तथा करु ॥"

अिस अन्तिम चरणमें जो सन्तोष है वही कलाके क्षेत्रमें शान्तरस है। रौद्र, भयानक और अद्‌भुत यह तीनों रस अगर अन्तमें हमें शान्त रस में न ले जायँ, सन्तोष न दें तो अिन्हें कोई रस ही न कहेगा।

अगस्त १९३६

११

मेरे साहित्यिक संस्कार

पुराने ज़मानेमें वेदान्तकी जितनी चर्चा और मीमांसा चलती थी अुससे आजकी साहित्य-चर्चा कुछ कम नहीं है। आज साहित्यका तंत्र बहुत सूक्ष्म और अटपटा हुआ है। अिस तंत्रके अनुसार लिखना कोअी आसान बात नहीं है। अिस तंत्रकी तानाशाहीसे अूबकर बेचारा भवभूति बोल अुठा था—

सर्वथा व्यवहर्तव्यम् कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचाम् साधुत्वे दुर्जनो जनः॥

लेकिन आद्य साहित्यकारके सामने कौनसा तंत्र था ? हर देश

तथा समाजका आद्य साहित्यकार अनजाने ही साहित्यिक हुआ होगा, क्योंकि साहित्य बिलकुल प्राकृतिक प्रवृत्ति है। अवलोकन, निरीक्षण, विचार, कल्पना या भावना जब अुत्कट हो जाती है तब मनुष्यसे लिखा-बोला जाता है; और अुत्कटताका यह स्वभाव ही है कि अुसकी भाषामें कुछ असाधारणपन, कुछ आकर्षण, कुछ चमत्कृति आ ही जाती है। अुत्कटतामें स्वाभाविक सौन्दर्य प्रकट हुअे बिना रहता ही नहीं। यह शोभा पहले तो आप-ही-आप फूट निकलती है, लेकिन बादमें वह शोभा ही सारा ध्यान खींच लेती है और सराहनाका विषय बन जाती है। अुसमेंसे धीरे-धीरे साहित्यका तंत्र बँध जाता है।

पहले तो लोकसाहित्यकी ही सृष्टि होती है। अुसमें धीरे-धीरे प्रयत्नपूर्वक शोभा लानेसे शिष्ट साहित्य तैयार होने लगता है। लोकसाहित्यमें दो लक्षण हमेशा दिखाओ देते हैं; साहित्य-शास्त्र और धर्मशास्त्रके कृत्रिम और निश्चित बन्धनोंमें वह नहीं बँधता। सामान्य लोकसमाजकी स्वतंत्र प्रवृत्ति और स्वयंभू प्रेरणाके वशमें जब-तक साहित्य रहता है तभी-तक वह लोक-साहित्य होता है, सदाचार और सदभिरुचिकी जितनी रक्षा सहजरूपसे अुसमें की जाती हो अुतनेसे ही वह सन्तोष मानता है। प्रयत्नपूर्वक मर्यादाअें बाँधकर आग्रहके साथ अुनका पालन करने जायँ तो लोकसाहित्यका लौकिक-पन मिट जाता है।

लोकसाहित्यकी बड़ी फ़सल आनेके बाद मनुष्यको अुसमें छलनी लगानेकी अिच्छा होती है। और अुसीमेंसे शिष्ट समाजका साहित्य बढ़ता है।

लोकसाहित्यकी स्वाभाविकता और ताज़गी मुझमें हो या न हो, शिष्ट-साहित्यका असर मुझपर पड़ा हो या न हो, मैं तो अपनेको स्वाभाविक लेखकोंकी श्रेणीमें ही गिनता हूँ। अनुभव और चिन्तनसे जो कुछ और जैसा कुछ सूझे वही अस-अस

वक्त लिख डालना मैंने पसन्द किया है। प्रयत्नपूर्वक साहित्य-सेवा तो मेरे हाथों हुअी ही नहीं। शिष्ट समाजमें विचरता हुआ भी मैं शिष्ट समाजका नहीं हो सका। जैसा कुछ अनगढ़ था वैसा-का-वैसा ही रह गया हूँ। मुझे अिसका दुख नहीं है क्योंकि अुस रास्तेसे ही मैं अपने अपने-पनकी—फिर वह अपनापन चाहे जितना स्वल्प क्यों न हो—रक्षा कर सका हूँ। अनगढ़ मनुष्यको सामाजिक व्यवहारमें क़दम-क़दम पर कड़ुवे अनुभवोंका सामना करना ही पड़ता है। अैसे अनुभव मेरे लिये दो नतीजे लाये। अेक तो यह कि मैं समाजसे अुकताकर कुदरतकी गोदमें जा पड़ा; और दूसरा यह कि मैं अन्तर्मुख हो गया। पहले-पहले ये दोनों वृत्तियाँ साहित्यसृजन करने न देतीं थीं। अिसलिये यानी संयमके अुद्देश्यसे नहीं बल्कि आत्म-अविश्वास, लज्जा और मुग्धभावके कारण मैं साहित्यसे दूर ही रहा। विद्याध्ययनके दिनोंमें जो कुछ पढ़ना पड़ा और जो कुछ थोड़ा-सा अपने असाधारण आकर्षणके कारण नज़रमें जँच गया अुतना ही मैंने पढ़ा। अपनी साहित्य-शक्तिको बढ़ानेका जो क़ीमती मौका था अुससे मैंने कोअी फ़ायदा नहीं अुठाया।

मुझमें अगर कुछ भी साहित्यशक्ति पैदा हुअी हो तो वह अपने अनुभव और विचार व्यक्त करनेकी अुत्कटतामेंसे ही हुअी है। और वह स्वभाविक रूपसे संभाषणमें ही परिणत हुअी। काश, अुस वक्त मुझे वासरी (डायरी) लिखने की आदत होती! अपने अेक शिक्षकको मैंने अैसी वासरी लिखते देखा है। अुनकी वासरी पढ़ने की हमें अिजाज़त थी, लेकिन अुसका आस्वाद लेने जितनी शक्ति हममें न थी. क्योंकि वे अपनी वासरी अंग्रेजीमें लिखते थे। अुसे अगर वे मराठीमें लिखते तो मेरे जैसे अनेक मुग्ध बालकोंको असाधारण लाभ पहुँचा होता।

अितना तो सही है कि चिट्ठी-पत्र और वासरी ही सामान्य

जनसमाजका साहित्य है। मेरे खयालसे वही अुच्च कोटिका साहित्य है। दूसरोंसे कहने जैसा जितना कुछ हो अुतना ही हम खत-पत्रों-में लिखते हैं और अपने जीवनमें जो कुछ दर्ज करने जैसा हो, यानी खासियत रखता हो, वही वासरीके पृष्ठोंमें आ जाता है। अैसी वढ़िया छलनीसे छनी हुअी कृतियाँ साहित्यका दर्जा हासिल करे तो अुसमें क्या आश्चर्य ? साहित्यकार भले कहें कि नाटकान्तं कवित्वम्, अुस बातका विरोध मैं नहीं करता। सभी प्रकार की विविधता और आकर्षकता नाटकोंमें स्वाभाविक रूप से अिकट्ठी होती है, फिर भी मैं कहूंगा कि पत्रमूलं एवं वासरी मूलं च साहित्यम्। दोनोंमें वास्तविकताका बड़ेसे बड़ा आधार रहता है। आजकलके कृत्रिम युगमें पत्र और वासरी दोनों बनावटी ढंगसे भी लिखे जा सकते हैं। अुसका विचार यहाँ किसलिये करूँ ? दुनियाकी कौनसी चीज विकृत नहीं होती ? संभाषण और मनन जिस तरह अुत्कट व्यापार हैं अुसी तरह पत्र और वासरी दोनों का लेखन अुत्कट व्यापार है।

हमारे बचपनमें साहित्य कंठ करनेका रिवाज बहुत था। स्कूलमें तथा घरमें लड़कोंसे बहुत कुछ कंठ कराया जाता था। लेकिन हमारी प्राथमिक शालाओंमें अुच्च अभिरुचि से चयन देनेवाला कोअी न था। घरमें तो बालबोध और सकाम भक्तिसे चुना हुआ साहित्य याद करनेका रिवाज था। शामको मन्दिरों में पौराणिकोंका पुराण सुनने बैठें और रातको हरिदासोंके संगीतमिश्रित हरिकीर्तनका मजा लूटने जायँ तभी साहित्यरसिकताका अखूट आस्वाद मिलता था। अुसमें भी अर्थालंकारकी अपेक्षा शब्दालंकार और श्लेषपर ही हमारे ये साहित्याचार्य कुर्बान होते थे।

घरमें सबसे बड़े भाअी संस्कृतके रसिक थे। बचपनमें अुन्हें पढ़नेके लिये अेक शास्त्रीजी रखे गये थे। भाअीसाहब कभी-

कभी संस्कृतके अच्छे-अच्छे फ़िक़रे पढ़कर सुनाते थे, घूमते-टहलते वक्त कंठ किये हुअे श्लोक गुनगुनाने की अुन्हें आदत थी। अर्थ भले ही समझमें न आये, लेकिन संस्कृत वाणीकी ध्वनि के प्रति आदर और प्रेम तो मेरे मनमें बचपनमें ही अिस तरह जागृत हुआ था। आज भी मुझे अैसे दो फ़िक़रे याद हैं जिनका अर्थ मैं समझ सका था। अेक है सावित्री-आख्यानका और दूसरा है शांकरभाष्यके अेक आसान अंशका।

अेक तरफ़ माताजीके मुँहसे सुने हुअे पौराणिक लोकगीत, दूसरी तरफ़ संस्कृत सुभाषित और बीचमें सुने गायी हुअी पौराणिकोंकी गरी—यह मेरा बचपनका साहित्यिक पाथेय था। दिलचस्पी आने लगी पांडवप्रताप, शिवलीलामृत, भक्तिविजय हरिविजय आदि मराठी काव्यग्रंथ और 'नवनीत' नामके मराठी काव्यसंग्रहमें आये मराठी कवियोंके गीत गानेमें। अिस पुराने मराठी साहित्यके कारण मेरा शब्दसंग्रह बढ़ा और संस्कृति सीखनेकी पूर्व तैयारी हो गयी।

'संस्कृत शैली या लोकशैली ?' का झगड़ा आजकल प्रत्येक प्रान्तमें चल रहा है। हमने यह झगड़ा यूरपसे मोल लिया है। लोक-भाषा, लोकसाहित्य और अुनके देशज शब्दोंकी मुझे क़द्र है। यह मैं भी मानता हूँ कि अुनके अुद्धारके बिना लोकजागृति और लोकशिक्षा संभव नहीं है। फिर भी जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृतकी धुरा फेंक दो और सिर्फ़ लोकभाषासे ही प्रेरणा लो, अुनसे मैं सहमत नहीं हो सकता। संस्कृत भाषा चाहे जितनी मुश्किल हो, अुसका व्याकरण चाहे जितना अटपटा हो, फिर भी वह हमारी भाषा है, हमारी बनायी हुअी भाषा है। अुसमें हमारी जनताका स्वभाव और अुसका मानसिक गठन प्रतिबिंबित हुआ है। अुसके पोषणके द्वारा ही हम संस्कृतिपुष्ट होनेवाले हैं। अंग्रेज़ोंके लिये जिस तरह ग्रीक या लैटिन परायी भाषाअें हैं अुस तरह

संस्कृत हमारे लिये परायी नहीं है। हम अगर संस्कृतसे पोषण लेना छोड़ दें तो हम सभी तरहसे क्षीण हो जायंगे। हमारी सांस्कृतिक अेकता और सांस्कृतिक समृद्धिमें संस्कृतका हिस्सा सबसे बड़ा है। विशाल संस्कृत साहित्यका मंथन करके अुसमेंसे चौदह नहीं बल्कि चौदह हजार रत्न अपनी देशी भाषाओंमें हमें लाने चाहिये, और अिस विरासतकी सुगंध हमारे तमाम लेखोंमें महकनी चाहिये।

साहित्यकी अुत्तम तैयारी साहित्य-विवेचनसे नहीं बल्कि सर्वश्रेष्ठ साहित्यके गहरे अध्ययनसे हो सकती है। साहित्य-विवेचन अुचित मात्रामें और बहुत देरसे आना चाहिये, वरना अभिप्राय और अभिरुचि असमय ही परिपक्व होते हैं।

और साहित्यकी सृष्टि तो विवेचनमेंसे हरगिज नहीं होनी चाहिये। साहित्यके लिये जबर्दस्त सिसृक्षा और दूसरोंके साथ गहरा विचार विनिमय करनेकी आतुरता प्रधान प्रेरणा हो सकती है। माताका अपने बालकोंके प्रति प्रेम, पतिपत्नीका अेक दूसरेके प्रति अनुराग और गुरुशिष्योंके बीचका भक्तिवात्सल्य ये भावनाअें जितनी अुत्कट होती हैं अुतनी ही साहित्य सिसृक्षाकी वृत्ति भी अुत्कट और अदम्य है। यह सिसृक्षा अगर शुभ परिणामी न हो तो अुसे पागलपनकी अुपमा दी जा सकती है। साहित्य आज जितना सस्ता हुआ है और बेसमझे-बूझे जितना खराब किया है अुतना अगर वह खराब न किया गया होता तो साहित्यने भारी-से-भारी परिणाम दिखा दिये होते। शुभंकर साहित्य आत्माकी अमृतकला है, क्योंकि वह चैतन्यकी प्रेरणा है।

साहित्यकी सिसृक्षा और अुसका केवल आस्वाद लेनेकी रसिकता यह दो चीजें बिलकुल अलग-अलग हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि केवल रसिकतामेंसे सिसृक्षा पैदा होगी ही।

सिसृक्षा स्वतंत्र प्रेरणा है। साहित्यकी सिसृक्षामें तमाम सिसृक्षाओं के लक्षण दिखाओ देते हैं। जिस तरह बाल-विवाह खराब है अुसी तरह छोटी अुम्रमें जल्दी-जल्दीमें किया हुआ साहित्य-सर्जन खराब है। दोनोंमें बड़ी अुम्रतक ब्रह्मचर्य यानी वीर्यरक्षा आवश्यक है। दोनोंमें तुलना करनी ही हो, तारतम्य निश्चित करना हो, तो 'वीर्यपातकी अपेक्षा वाक्पात अधिक अुग्र होता है।' अिस पुराने वचनको नये अर्थमें साहित्यपर भी चरितार्थ किया जा सकता है। यह कहना मुश्किल है कि साहित्य जैसी मंगल वस्तुमें मर्यादा किस तरह रखी जाय। फिर भी अितना तो समझ ही लेना चाहिये कि अतिसेवनसे खराबी पैदा किये बिना नहीं रहता। अतिसेवन से शायद संस्कारिताकी चमक आ सकती है लेकिन तेज तो कभी नहीं आ सकता।

कुछ साहित्यवीरोंको हम अखंड सृजन करते देखते हैं। यह अखंड साहित्यसृष्टिका अधिकार जीवन वीरों तथा जिन्दा मिशनरियों का ही है।

अध्ययनकालमें मराठी, संस्कृत और अंग्रेजी साहित्यके अुत्कृष्ट ग्रंथोंका असर मुझपर पड़ा। रवीन्द्रनाथ ठाकुरका साहित्य और गांधी-साहित्य अुसके बाद आये। अिन दोनों राष्ट्र-पुरुषोंकी विभूतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। दोनोंकी साधनाअें अलग-अलग हैं। लेकिन दोनोंके साहित्यका गहरा अध्ययन करनेपर यह बात साफ़ हुअे बिना नहीं रहती कि दोनोंका दर्शन क़रीब-क़रीब अेक-सा ही है। आधुनिकोंमें भांडारकर, रानडे, स्वामी विवेकानन्द, भगिनी निवेदिता, लाला हरदयाल, आनन्द-कुमार स्वामी, बाबू विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और गांधीजी-अितनोंका प्रभाव मुझपर अधिक-से-अधिक पड़ा है अैसा मैं मानता हूँ। आश्चर्य यह है कि मैं लोकमान्य तिलकका भक्त होते हुअे भी और अुनके आन्दोलनमें शरीक

होनेपर भी अुनके साहित्यका मुझपर बहुत ही कम असर पड़ा। अुसमें कुछ-न-कुछ अैसा है जिससे मैं अुनका साहित्य हज़म न कर सका। अंग्रेजी साहित्यके बारेमें यहाँ कुछ भी लिखनेकी अिच्छा नहीं है। मैं अितना ही कह सकता हूँ कि अंग्रेजी साहित्यके प्रति मेरे मनमें गहरा आदर है, हालाँकि अुस साहित्यका सेवन तो मैं बहुत कम कर सका हूँ।

कवि हों या गद्यलेखक, अुन्हें जीवनका गहरा अध्ययन या दर्शन होना चाहिये और आजकल तो साहित्यकारके लिये मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, भौतिकविज्ञान और धर्मशास्त्रका विस्तृत अध्ययन करना ज़रूरी है। इस आदर्शतक जो पहुँचे हैं अुन्हींका साहित्य समाजपर गहरा असर कर सकता है। विवेकानन्द, निवेदिता, रवीन्द्रनाथ और गांधीजी मुझपर जो इतना प्रभाव डाल सके अुसका यही कारण है। अुनके साहित्यने मुझे जीवनमें प्रेरणा दी, हृदयको सांत्वना दी, और अुज्ज्वल भविष्यकी झलक दिखलायी।

अितिहासकारोंका भी मुझपर गहरा असर होना चाहिये था। लेकिन जैसा अितिहास मैं चाहता हूँ वैसा अितिहास मैंने नहीं देखा है। मेरी रायमें जो त्रिकालज्ञ हो वही यथातथ्य अितिहास लिख सकता है।

× × ×

मेरे विचारसे हमारे देशके लिये रामायण और महाभारत अत्यंत पौष्टिक आहार हैं। दोनों अलग-अलग चीज़ें हैं। सिर्फ़ रामायणसे काम नहीं चलेगा। सिर्फ़ महाभारतसे भी काम नहीं चलेगा। यह दोनों संक्षेप में भी नहीं पढ़े जा सकते, वह पूरे-के-पूरे ही पढ़े जाने चाहिये। साथ-ही-साथ अुपनिषद्, योगसूत्र और मनुस्मृति पढ़ी जायँ तो हमारी बहुत कुछ तैयारी हो जायगी। अुसमें भी गीता पढ़नेके बाद ही अुपनिषदोंका

अध्ययन होना चाहिये। अमेरिकन लोगोंके लिये जो स्थान कोलंबसका है वही स्थान हमारी संस्कृतिमें अुपनिषद्के आत्मवीरोंका है। हमारे साहित्यमें अुपनिषद्की कंडिकाओं और पालीभाषाके बौद्ध संभाषणोंको सभी तरहसे हमारा मूलधन कहा जा सकता है। अुनके अन्दर ही हमें अपनी संस्कृतिकी गंगोत्री मिल जाती है। अुनमेंसे प्राप्त होनेवाले जीवनदर्शनको अद्यतन करनेके लिये अुसमें भौतिकविज्ञान, संपत्तिशास्त्र और सामाजिकविज्ञान इन तीनोंको जोड़ देना चाहिये।

साहित्यका विचार करते समय मुझे अैसा लगता है कि संस्कृत साहित्यके साथ अीरानका फ़ारसी साहित्य, प्राचीन यूरपका ग्रीक साहित्य और पूर्वकी तरफ का हमारे लिये लगभग अज्ञात जैसा चीनी साहित्य अिन सभी साहित्योंका गहरा अध्ययन होना चाहिये। प्राचीन संस्कृतिके अध्ययनके बिना अिस बातका पता न चलेगा कि आधुनिक काल की ताकतें कितनी हैं, कैसी हैं और अुनका वीर्य कहाँतक पहुँच सकता है। हमारे यहाँ जितना अध्ययन अंग्रेजी साहित्यका हुआ करता है अुतना ही अध्ययन जर्मन साहित्यका भी होना जरूरी है, लेकिन अुस बारेमें हम अभीतक लापरवाह हैं। यूनिवर्सिटियाँ अपने पाठ्यक्रम द्वारा जितना कुछ खिलायेंगी अुतना ही खा लेनेकी हमारी शिशुवृत्ति अभी नहीं गयी है। और जितना खाया जाता है अुतनेका लाभ अपनी भाषाको देनेका फ़र्ज भी बहुत कम विद्वान् अदा करते हैं।

अिस संबंधी अेक छोटीसी घटना मुझे बहुत महत्वकी लगी है। बम्बअी सरकार ने अेक बार बम्बअी यूनिवर्सिटीसे पूछा था, कि 'संस्कृत के अध्ययनके लिये अगर हम कालेज खोलें तो क्या आप अुस कालेजके विद्यार्थियों को यूनिवर्सिटीकी अुपधियाँ देनेको तैयार हैं ?' अुस वक्त यूनिवर्सिटीमें जो चर्चा अिस बारेमें हुअी अुसमें हमारे प्रिन्सिपल परांजपेजीने अपनी

यह राय जाहिर की कि 'यदि संस्कृतके साथ कुछ नहीं तो प्रीवियस (फर्स्ट अीयर आर्ट्स) जितना अंग्रेजीका ज्ञान होगा तभी हम अुपाधि देनेका विचार करेंगे' और अुसमें भी अुन्होंने अिस बात पर जोर दिया कि 'संस्कृत सीख लेनेके बाद अगर विद्यार्थी अँग्रेजी सीखने जाय तो वह नहीं चलेगा । अंग्रेजी विद्याके संस्कार हो जानेके बाद अगर कोअी संस्कृत सीख ले तो हमें अेतराज नहीं है।' अुनका विचार अुलटा था मगर आग्रह सकारण था। हमने अपने यहाँ शिक्षा के गर्भाधानमें ही अंग्रेजी-के संस्कार कराके अपनी विद्याको निःसत्व और हीनश्रद्ध बना दिया है । विद्यासंस्कारका प्रारंभ अगर स्वकीय भाषा और स्वकीय संस्कृति से ही न किया जाय तो हमारे लिये किसी भी प्रकारकी अुम्मीद नहीं है। अैसा तो कुछ नहीं है कि जो अपना-अपना धर्म छोड़ते हैं वे ही सिर्फ परधर्ममें जाते हैं। स्वधर्म और स्वभाषाके संस्कारोंसे अगर बाल्यकाल वंचित रहे तो अुसके जैसी हानि दूसरी कोअी भी नहीं है।

हमारे गठनमें पहले स्वभाषा तथा अुसका साहित्य और अुसके साथ ही तथा अुसके द्वारा ही संस्कृत के संस्कार भी मिलने चाहिये। अुसके बाद राष्ट्रभाषा--जिसके द्वारा संस्कृत व पर्शियन दोनोंका पूरा खमीर हमें मिलना चाहिये। अितनी तैयारीके बाद दूसरी चाहे जो भाषा और अुसका साहित्य ले लिये जाय तो वह पोषक ही होगा।

जहाँ भारतवर्षकी साधना सर्वसमन्वयकारी है हमारी यूनिवर्सिटियोंने लगभग ऐसा प्रबन्ध कर रखा है कि जो संस्कृत पढ़ें वह फ़ारसी पढ़ ही न सकें और जो फ़ारसी पढ़ें अुन्हें संस्कृतसे विमुख ही रहना पड़े । केवल हिन्दुस्तानीके द्वारा ही हम गंगा-यमुना जैसी अिस सुर-असुरकी संस्कृतिका मेल करा सकते हैं। जिन्हें साहित्यके संस्कारोंको सर्वांगसुन्दर बनाना है

अुन्हें संस्कृत और फ़ारसी दोनों साहित्योंके अुत्कृष्ट ग्रंथोंके अनुवाद हिन्दुस्तानीमें कराने चाहिये और अैसा प्रबन्ध करना चाहिये कि वह दोनों लिपियोंमें अुपलब्ध हों। अिन दोनोंका जब अेकसाथ सेवन होगा तब हमारे साहित्यसर्जनमें अेक नया ही तेज आ जायगा।

जीवन संस्कृति

१

संस्कृतिका विस्तार

वृक्ष तो अपने-अपने स्थानोंपर ही स्थिर रहते हैं, लेकिन वायु वृक्षोंके बीजोंको अेक स्थानसे दूसरे स्थानपर अुड़ाकर ले जाती है। फूल अपने स्थानपर ही रहता है, किन्तु पतिंगोंके पैरोंमें फूलके जो पराग चिपक जाते हैं अुनके ज़रिये दूर-दूरके फूलोंमें रहनेवाले पुँकेसर और स्त्रीकेसरका संयोग होता है और अिसतरह पुष्प-सृष्टिका विस्तार हो जाता है। मानवी संस्कृतिके बारेमें भी यही स्थिति है। मनुष्यके अन्दर दोनों वृत्तियाँ देखी जाती हैं—स्थावर और जंगम। जो आदमी स्थावर होते हैं वे अेक ही स्थानपर क़ायम रहते हैं। अुनमें संरक्षक प्रवृत्ति विशेषरूपसे होती है। स्थावर लोग पुरातनप्रिय होते हैं। शान्तिके अुपासक होते हैं। जंगम लोग अिनसे बिलकुल विपरीत; अुनमें स्थिरता नहीं होती। चाहे जितना लाभ होता हो तो भी जंगम मनुष्य अेक स्थानको पकड़कर नहीं बैठेगा। स्थावर मनुष्यका धंधा खेती है और जंगम मनुष्यका शिकार या पशुपालन। शिकार जंगली स्थिति है और पशुपालन अुससे सुधरी हुआी स्थिति है। स्थावर तथा जंगम दोनों वृत्तियाँ अीश्वर-निर्मित हैं। दोनोंके द्वारा अीश्वरका हेतु ही सफल हुआ करता है। अिस तत्त्वको ध्यानमें रखकर हम भिन्न-भिन्न संस्कृति-योंका अध्ययन करेंगे।

दुनियामें तीन प्रधान संस्कृतियाँ देखी जाती हैं:—अिस्लामी, अीसाअी और हिन्दू। हालाँकि अिन संस्कृतियोंको हमने अुन-अुन धर्मोंके ही नाम दिये हैं, फिरभी अैसा तो नहीं है कि धर्म और संस्कृति अेक ही चीज़ हो। अितना ध्यानमें रखा जाय तो यहाँ पेश किये हुअे विचारोंमें कोअी गड़बड़ी मालूम न होगी।

अिस्लामी संस्कृति अरब लोगोंके तंबुओंमें पैदा हुअी और घोड़ोंकी पीठपरसे अुसका विस्तार हुआ। जहाँ-जहाँ घोड़ा पहुँच सका वहाँ-वहाँ अिस्लामी संस्कृति भी पहुँच गयी। जिस तरह प्रत्येक जन्म दो व्यक्तियोंके संयोगसे होता है अुस तरह संस्कृतिकी भी हालत होती है। मुसलमानी धर्मके अरबी वीर्यका अीरानी संस्कृतिके साथ संयोग हुआ और अिस्लामी संस्कृतिका निर्माण हुआ।

अब अीसाअी संस्कृतिको देखें। अीसाअी संस्कृतिका जन्म भूमध्यसागरके किनारेपर हुआ और अुसका प्रसार समुद्रकी पीठपर चलनेवाली नौकाओंकी मारफ़त हुआ। अीसाअी धर्मके तत्त्वोंको ग्रीक संस्कृतिसे पोषण मिला और आगे चलकर रोमन संस्कृतिके अखाड़ेमें तालीम पाकर वह तैयार हो गये। अीसाअी संस्कृतिपर मातापिताकी अपेक्षा गुरुकी शिक्षाका असर अधिक हुआ दिखाअी देता है। जहाँ-जहाँ नौकाकी गति है वहाँ-वहाँ अिस संस्कृति का विस्तार हुआ है।

तीसरी संस्कृति है हिन्दुओंकी। अिस्लामी संस्कृतिका चित्र तंबूके पास घोड़ेको बाँधकर दिखाया जा सकता है; अीसाअी संस्कृतिका चित्र समुद्रकी लहरोंपर डोलनेवाली नौकासे व्यक्त किया जा सकता है; जबकि हिन्दू संस्कृतिका चित्र वटवृक्षके नीचे किसी झोंपड़ीके पास गायको बाँधकर दिखाया जा सकता है। आर्य-धर्मका द्राविड़ी आदि संस्कृतियोंके साथ विवाह हुआ और अुसमेंसे हिन्दू-संस्कृति पैदा हुअी।

अीसाअी संस्कृतिका प्रसार करनेके लिये किश्ती है। अिस्लामी संस्कृतिके प्रसारके लिये घोड़ा है, मगर हिन्दू-संस्कृतिका प्रसार करनेवाला, कौन है? जंगलोंको काट-साफ़ करके खेती और शहरोंकी स्थापना करनेवाले आर्योंने हिन्दू-संस्कृतिका थोड़ा-बहुत प्रसार किया तो सही, मगर हिन्दू-संस्कृतिका विस्तार करनेवाला सच्चा प्रचारक तो झोंपड़ीपर अुगे हुअे तूँबेका ही भिक्षापात्र बनाकर शरीरपर ओढ़नेके वस्त्रोंको लाल मिट्टीसे रंगकर 'न धनेन न प्रजया त्यागेनैकेन अमृतत्त्वमानशुः' कहकर धर्म तथा अमृतत्त्व-का प्याला संसारको पिलानेके लिये निकल पड़नेवाला सर्वसंगपरि-त्यागी परिव्राजक है। अिस मार्गके आद्य परिव्राजकने तो अुत्तर भारतमें ही विहार किया, किन्तु अुसके शिष्योंने 'अक्रोधेन जिने क्रोधम्' कहते हुअे सारे युरेशियाको व्याप्त कर दिया।

विविधता सृष्टिका मूलमंत्र है। अितिहास-विधाताकी यह अिच्छा नहीं है कि अेक ही संस्कृतिका प्रसार सारे जगतमें हो। विविधतामें अेकताको प्रस्थापित करनेमें ही प्रभुको आनन्द है।

जिसे अेकांगी साक्षात्कार हुआ है अुसकी समझमें यह तत्त्व नहीं आता और अिसीलिये अपने ही तत्त्वका सार्वभौमत्व प्रस्थापित करनेके लिये वह निकल पड़ता है। फिर अैसा भी नहीं है कि यह प्रचारक हमेशा निःस्वार्थ ही होता हो।

नूतन तत्त्वप्राप्तिका पुत्रोत्सवके समान आनन्द जब पेटमें न समा सका तब मुसलमानी धर्मको सारे आलममें फैलानेकी ग़रज़से अिस्लामी धर्मवीर आगे बढ़े। आसपासकी जंगली जातियोंको मुसलमानी धर्मकी अुचता आसानीसे पसंद आयी और वे अुसमें शरीक हो गये। दूसरी तरफसे मुसलमानोंने अीरानी संस्कृतिको स्वीकार किया। लेकिन मुसलमानी धर्मको आलमगीर (सार्वभौम) बनाना हो तो हिन्दू और अीसाअी संस्कृतियोंपर, जो कि पूर्व और पश्चिमके छोरोंको सँभाल रही

थीं, भी विजय प्राप्त करना ज़रूरी था। दैवयोगसे हिन्दुस्तान और यूरप दोनों जगह अिसी अर्सेमें संघशक्ति नष्ट हो चुकी थी। यूरपमें छोटे-छोटे राष्ट्र अेक दूसरोंसे लड़ मरते थे और हिन्दुस्तानमें अनेक जातियाँ और अनेक छोटे-मोटे राजा 'मैं बड़ा या तू बड़ा' कहकर आपसमें झगड़ रहे थे। स्वाभाविक रूपसे ही साहसिक मुसलमानोंके लिये क़ुरान, तलवार और व्यापार प्रसार करना आसान होगया। मुसलमानोंने स्पेनके अंदर अल्हम्ब्रा(लाल महल) बनाया और आगरे में ताजमहल। ताजमहल चाहे जितना सुन्दर क्यों न हो, लेकिन आख़िर है तो वह अेक क़ब्र ही। मुमताज़ बेगमको ही नहीं बल्कि साथ-साथ अिस्लामी संस्कृतिके विस्तारको भी अुसके गर्भमें दफ़नाया गया।

यूरपमें अीसाअी धर्मका प्रचार तो बहुत ही हुआ था। लेकिन अीसाअी धर्मका नम्र नीतिशास्त्र युरोपीय लोगोंके गले कदापि अुतरा न था। अेक गालपर तमाचा पड़े तो तुरन्त दूसरा गाल आगे करनेकी तैयारी यूरपमें किसी भी समय न थी। अैसी हालतमें मुसलमानी तलवारकी मार शुरू होते ही यूरपकी क्षात्र-वृत्ति जोशमें आयी और शार्लमान राजाके समयसे लेकर आज-तक मुसलमानी सत्ताको धकेल-धकेलकर यूरपसे बाहर निकाल देनेकी कोशिश चल रही है। अब तो अैसा मालूम नहीं देता कि मुसलमानी संस्कृतिको सिर्फ़ यूरपसे निकाल बाहर करके ही यूरपीय राष्ट्र सन्तोष मानकर चुपचाप बैठ जायंगे। अफ्रीका महाद्वीपमें अीसाअी और मुसलमानी दोनों धर्म अपना-अपना विस्तार करनेकी कोशिश कर रहे हैं। अुसमें अीसाअी धर्मकी अपेक्षा मुसलमानी धर्मको अधिक सफलता मिलती है जिससे अीसाअी लोगोंको बहुत दुःख होता है। ज्यादातर मुसलमान राष्ट्रको तो यूरपकी जनताने आज व्याप्त कर रखा है। अिसके परिणामस्वरूप कभी-न-कभी मुसलमानी राष्ट्र फिरसे सजीव होकर

अीसाअी राष्ट्रोंपर हमला किये विना न रहेंगे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि आघात-प्रत्याघातके निर्दय नियमके शिकंजेमें फँसी ये दो संस्कृतियाँ अिस तरह कबतक लड़ती ही रहेंगी, अुत्साहके प्रथम जोशमें सारी दुनियाको जीतनेके लिये निकली हुअी अिस्लामी संस्कृतिको यूरपमें जिस तरह शह मिली और अुसका गर्वज्वर अुतर गया अुसी तरह हिन्दुस्तानमें मुसलमानी सल्तनतको सिक्खों और मराठोंकी तरफ़से जबर्दस्त विरोध हुआ और यहाँ भी मुसलमानी संस्कृतिका अभिमान चूर-चूर हो गया। 'तुम अपने धर्मका पालन करो, हम अपने धर्मका पालन करेंगे' यह हिंदू धर्मका स्वधर्मरहस्य मुसलमानोंकी समझमें आने लगा है। कुरान शरीफ़में भी अेक अैसा वचन है कि 'तुमको तुम्हारा धर्म और हमको हमारा धर्म मुबारक हो।' यह मालूम कर लेना ज़रूरी है कि चुस्त मुसलमान अिस वाक्यका क्या अर्थ लगाते हैं।

अीसाअी धर्ममें, असलमें देखा जाय तो लड़ाअीके लिये स्थान ही नहीं है। मुसलमानी धर्ममें धर्मप्रसारके लिये लड़ना पुण्यप्रद माना गया है। अितना ही नहीं बल्कि अुसे कर्तव्य समझा गया है। हिन्दू धर्म बीचके मार्गको स्वीकार करता है। हिंदू धर्ममें धर्मानुकूल रक्षाके लिये युद्धको विहित माना गया है। आत्म-रक्षा या धर्मरक्षाके लिये करनेके युद्धको हिंदू धर्म 'यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्' मानता है।

That thou mayest injure none, dove-like be,
And serpent-like that none may injure thee.

अिस बाअिबलके वचनमें हिंदू तत्त्वका यथास्थित वर्णन किया गया है। हिंदू लोगोंने अपने बचाव का प्रयत्न तो किया है लेकिन बदला लेनेकी बुद्धि अुन्हें कभी नहीं सूझी और अिसीलिये आज हिंदू मुसलमानोंके अेक साथ रहनेकी संभावना कल्पनामें तो आ सकती है।

पश्चिमी संस्कृति अर्थप्रधान है। हिंदू-मुसलमान संस्कृतियोंने जीवनके आर्थिक पहलूकी ओर ध्यान ही न दिया। अुसके प्रायश्चित्तके तौरपर दोनोंको आज पश्चिमी सत्ताके पाशमें जकड़कर रहना पड़ा है। जीवनको परिपूर्ण बनाना हो, पारमार्थिकके साथ अैहिक कल्याण साधना हो तो जैसा कि श्री वेदव्यासजी कह गये हैं।

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः

हमने अिसमेंसे अेक अंगके प्रति लापरवाही बरती। अपनी खुशीसे हमने जिस अंगका अनुशीलन न किया अुसका अनुशीलन पराभव और परतंत्रताकी कठोर शालामें अीश्वरने हमसे कराया। पैनअिस्लामिक लोग चाहे जो कहें, लेकिन अिस्लामी संस्कृतिमें जहांगीर बननेका मोह अब नहीं रहा है। जिस तरह हिंदुओंने वैरकी बुद्धि न रखकर सिर्फ अपने बचावके लिये ही विरोध किया अुस तरह हिन्दू-मुसलमानोंको अेक होकर सात्त्विक वृत्तिके द्वारा और आत्मिकबलका प्रयोग करके अिस अर्थपरायण पश्चिमी संस्कृतिका विरोध करना चाहिये।

अिस जंगम संस्कृतिका तीसरा नमूना हिन्दूधर्ममेंसे ही निकले हुअे बौद्ध धर्मका है। अिस धर्मको भी सार्वभौम बननेकी पहलेसे लालसा थी। लेकिन अुसके साधन सौम्य और सात्त्विक थे। अिसलिये अुसके विस्तार या संकोचमें रक्तपातकी कोअी आवश्यकता दिखाअी न दी। अिस धर्ममें सत्यका जितना अंश है अुसका प्रसार आप-ही-आप होता है और भ्रामक कल्पनाअें या अहंकार तलमें जमकर रह जाता है। जिस तरह समुद्रमेंसे शुद्ध पानीकी भाप बनकर आकाशमें अुड़ जाती है, और खारा नमक नीचे रह जाता है अुस तरह बौद्ध धर्मका आजतक होता आया है

हिन्दुस्तान ही सब धर्मोंका ननिहाल है। धर्मोंकी व्यवस्था करने की शक्ति हिन्दुस्तानमें है। हिन्दू संस्कृतिमें जंगमकी अपेक्षा

स्थावर तत्त्व विशेष है। और असल बात तो यह है कि हिन्दू संस्कृतिमें अहंकार नहीं है। सब संस्कृतियोंके समन्वयका प्रथम प्रयोग परमेश्वर हिन्दुस्तानको छोड़ और कहाँ जाकर करेंगे ?

२

जीवन-चक्र

तपस्या, भोग और यज्ञ—यह अेक महान् जीवन-चक्र है। मनुष्य किसी कामनासे प्रेरित होकर संकल्प करता है। अुस संकल्पकी सिद्धिके लिये मनुष्य जिन-जिन कामोंको उठाता है, वे सभी तपके नामसे पहचाने जाते हैं। वे काम खुद-बखुद अथवा स्वतः प्रिय होते हों, सो नहीं; किन्तु संकल्पसिद्धिकी आशा हीके कारण मनुष्य अुनको प्रेमसे या उत्साह-पूर्वक उठा लेता है। इस तपके अंतमें फल-प्राप्ति होती है। फल-प्राप्तिके बादकी क्रिया ही भोग है। फलोपभोग हमारी धारणासे भी गूढ़ वस्तु है। यदि फलोपभोगमें केवल तृप्ति ही होती, तो उसीमें मनुष्यको आत्म-साक्षात्कार हो जाता; पर फलोपभोगके आनन्द ही में विषण्णता भरी होती है। हम हरेक आनन्दमें अनजाने आत्माको प्राप्त करना चाहते हैं। कामना-पूर्तिसे मिले हुअे आनन्दके बाद अेक क्षणमात्र मोहजन्य सन्तोषको प्राप्त कर दिल कहता है, कि मैं जो चाहता था वह यह नहीं है। अितने ही से सचेत होकर यदि मनुष्य कामनाओंसे विमुख हो जाय, तो अुसे आत्म-प्राप्तिका मार्ग मिल जाय। परन्तु सत्यका मुख सोनेके ढक्कनसे ढका होता है। एक संकल्प पूरा नहीं होने पाता कि दूसरा संकल्प अुसीमेंसे अुत्पन्न हो जाता है और इस तरह फिर नअी प्रवृत्तिमें, नये तपमें और नये भोगमें मनुष्य बहने लगता है।

भिसमें यज्ञको स्थान कहाँ है ? प्रत्येक भोग और कामना-से किया हुआ प्रत्येक तप, प्रकृतिसे लिया हुआ ऋण है। मनुष्य अुसे चुकाकर ही ऋण-मुक्त होता है। मुझे अन्न खाना है, भिसीलिये मैं जमीन जोतता हूँ, अुसमें बीज बोता हूँ, फसल कटनेतक खेतमें परिश्रम करता हूँ और भिस तरह जमीनका सार निकालकर उसका भोग करता हूँ। मेरा धर्म यह है कि मैंने भूमिसे जितना सार लिया अुतना ही अुसे फिर लौटा दूँ। भिस तरह भूमिको अुसकी पहली स्थिति प्राप्त करा देना ही यज्ञ-कर्म है।

प्रवासमें मैं किसीके यहाँ रात-भर रहा। मुझे रसोई बनानी है, मैं घरवालेके पाससे बर्तन माँगकर लेता हूँ। अब बर्तनोंमें खाना पकाना मेरा तप है; और भोजन करना मेरा भोग। भितना करनेके बाद घरवालेके बर्तन माँजकर, जैसे थे वैसे ही करके, दे देना मेरा यज्ञ-कर्म है।

मुझे तालाब या कुँअेपर स्नान करना है। मैं पानी निकाल लेता हूँ तो वह मेरा तप है, स्नान करता हूँ तो वह मेरा भोग है। अब यज्ञ कौनसा ? बहुतेरे मनुष्य—लगभग सभी—विचारतक नहीं करते कि भिसमें कोअी क्रिया बाकी रह गअी है। शास्त्रोंमें लिखा है, 'यदि तुम तालाबमें स्नान करो तो जितनी तुमसे हो सके अुसकी कीचड़ निकालकर बाहर फेंक दो।' यही हमारा यज्ञ-कर्म है। यदि कुँअेमें नहाते हो तो अुस कुँअेके आसपासकी गंदगीको दूर करना हमारा आवश्यक यज्ञ-कर्म है।

गीता कहती है, जो भिस तरहका यज्ञ-कर्म नहीं करता वह चोर है। वह पापी मनुष्य शरीरको तकलीफ देना नहीं चाहता (अघायुरिन्द्रियारामः); समाजकी सेवा तो ले लेता है, पर अुससे अुधार ली हुअी चीज लौटाना नहीं जानता।

जो मनुष्य भोग करता है, पर यज्ञ नहीं करता, अुसका यह लोक भ्रष्ट होता है, फिर अुसके लिये परलोक तो कहाँसे होगा ?

अिस यज्ञ-कर्मका लोप हो जानेसे ही हिंदुस्तान कंगाल और पामर बन गया है। हम स्त्रियोंसे सेवा लेते हैं, परन्तु अुसका बदला अुन्हें नहीं देते। किसानोंके परिश्रमका भोग करते हैं, पर जिससे किसानोंकी भलाअी हो ऐसा यज्ञ-कर्म नहीं करते। हम अन्त्यजोंको समाज-सेवाका पाठ पढ़ाते हैं, बल-पूर्वक भी अुनसे सेवा लेते हैं, पर अुनके अुद्धार-रूपी यज्ञ-कर्म तकको न करने जितने हरामखोर हम बन गये हैं। हम सार्वजनिक लाभ प्राप्त करनेको सदा दौड़ते हैं, किन्तु कर्तव्यों का पालन शायद ही कभी करते हैं। अिससे सारा समाज दिवालिया बन गया है।

मोक्ष-शास्त्र कहता है—'न्यायके लिये भी तुम्हें यज्ञ करना चाहिये। भोगके लिये किया हुआ तप आधा कर्म हुआ; यज्ञ-कर्म अुसकी पूर्ति है। तुम तप तो करते हो, पर यज्ञ नहीं करते; अिसीसे तुम्हारी वासनाअें अनियन्त्रित रूपसे बहती हैं। यदि तुम यज्ञ करने लगो तो भोगकी अिच्छा जरूर मर्यादित रहेगी; तुम्हारा जीवन पापशून्य हो जायगा।

हरेक बालकके जन्मके बाद शिशु-संवंधके लिये स्त्री-पुरुष यदि सात वर्ष ब्रह्मचर्यमें बितानेका निश्चय कर लें तो अुन्हें दीन बनकर समाजकी दया पर आधार रखनेका मौक़ा अुनपर नहीं आ सकता।

यज्ञ करनेके बाद—ऋण चुकानेके बाद—मनुष्य जो तप करता है, जो भोग भोगता है, अुसका वह अधिकारी होता है, अुससे अुसे किल्बिष (पाप) नहीं प्राप्त होता। अुसकी प्रवृत्ति निष्पाप और अुन्नति-कारिणी होती है। पर यदि

मोक्ष प्राप्त करना हो तो प्रवृत्तिको छोड़ देना चाहिये--अर्थात् कामना, तत्प्रीत्यर्थ किया जानेवाला तप और अुस तपके द्वारा अुत्पन्न फलका अुपभोग अिन तीनोंको त्याग देना चाहिये। परन्तु यज्ञको तो किसी तरह छोड़ ही नहीं सकते। निष्काम—ज्ञानपूर्वक यज्ञ—कार्यमेव—करना ही चाहिये। अुससे पुराना ऋण चुक जाता है, अपने सम्बन्धियोंका ऋण टल जाता है, समाजका सर्व-सामान्य भार कम होजाता है, पृथ्वीका भार हलका हो जाता है, श्री विष्णु संतुष्ट होते हैं और मनुष्य मुक्त हो जाता है।

हम जो जी रहे हैं, अिसीमें सैकड़ों व्यक्तिओंका ऋण हम लेते हैं। प्राकृतिक शक्तियोंका तो ऋण है ही, समाजका ऋण भी है, माता-पिताका ऋण भी है, समाजको हर प्रकारसे संस्कारी बनानेवाले पूर्व-ऋषियोंका भी ऋण है, और कुल-परम्पराकी विरासत हमारे लिये छोड़ जानेवाले माता-पिताओंका भी ऋण है। ये सब ऋण पंचमहायज्ञों द्वारा चुका देनेके बाद ही मनुष्य भुक्ति या मुक्तिका विचार कर सकता है।

इस यज्ञ-कर्ममें पर्यायसे काम नहीं चलता। ऋण जिस तरहका हो, यज्ञ भी अुसी तरहका होना चाहिये। विद्या पढ़-कर गुरुसे लिया ऋण गुरुको दक्षिणा भर दे देनेसे नहीं चुकता; बल्कि गुरुके दिये ज्ञानकी रक्षा कर और अुसे बढ़ाकर नअी पीढ़ीको देना ही सच्चा यज्ञ-कर्म है। सृष्टिमें नवीन कुछ भी नहीं होता। जो-कुछ है अुतने हीमें काम चला लेना चाहिये। अिसलिये हम अपनी चेष्टाओंसे साम्यावस्थाका जितना ही भंग करते हैं, अुतना ही अुसे फिर समान कर देना परम-आवश्यक यज्ञ-कर्म है। आकाश जितनी भाप लेता है अुतना ही पानी फिर दे देता है। समुद्र जितना पानी लेता है अुतनी ही भाप वापस दे देता है। अिसीसे सृष्टिका महान् चक्र बेरोक-

ठीक चलता है। यज्ञ-चक्रको ठीक-ठीक चलाते रहना शुद्ध प्रवृत्ति है। निष्काम होकर त्याग-भाव से, कम-से-कम जहाँतक अपना सम्बन्ध है, अिस चक्रका वेग घटाना ही निवृत्ति धर्म है। कुछ भी काम न करना निवृत्ति नहीं, वह तो बिलकुल हरामखोरी ही है।

प्रजाका निर्माण करके प्रजापतिने अुसके साथ यज्ञका भी निर्माण किया, अिसीलिये प्रजापतिके अूपरका बोझ हलका हो गया और अिसीलिये प्रजाओंको स्वावलम्बनकी स्वतंत्रता मिली, मोक्षकी संभावना रही।

३

सुधारोंका मूल

रेलमें कअी बार भीड़ न होनेपर भी लोग झगड़ा करते हैं। यदि हरेक मनुष्य अपने बैठने योग्य जगह लेकर बैठ जाय तो सभी सुखसे बैठ सकें; पर कितने ही लोग बिना कारण स्वार्थी और मनुष्य-शत्रु होते हैं। अुनका यह हठ होता है कि लड़-भिड़कर जितनी जगह रोकी जा सके अुतनी रोककर ही हम मानेंगे; फिर परवा नहीं, यदि अुन्हें अैसा करते हुअे ज़रा भी आराम न हो, बल्कि अुन्हें अुलटा दुःख भी अुठाना पड़े। बेंचके अूपर अधिक जगह रोकनेके लिये यदि बिस्तर न हो तो वे पालथी ही मारकर बैठेंगे, और अुस पालथीको भी अितनी पोली करेंगे कि पैरोंकी सन्धियाँ दुखने लग जायँ! जबतक अुनकी लात दूसरेको न लग जाय, तबतक अुनके मनमें यह विश्वास ही नहीं होता कि हमारे स्वार्थ की पूरी रक्षा हुअी है। अैसा न करके अगर हरेक मनुष्य सज्जनताके साथ अेक-दूसरेकी सुविधाका खयाल रखते हुअे संतोष वृत्तिका विकास करे तो किसीको भी दुःख न हो और सभी आरामसे प्रवास कर सकें।

शहरों और देहातमें जब लोग घर बनवाते हैं, अुस वक्त भी अिसी प्रकार पड़ौसी-पड़ौसीमें झगड़ा हो जाता है। अुस जगह भी लोग सुख-दुःख अथवा सुविधा-असुविधा आदिका विचार छोड़कर महज स्वार्थ-धर्मके प्रति वफ़ादार बने रहनेके लिये ही कअीबार लड़ते हैं। यदि मेरी अेक बालिश्त-भर जमीन पड़ौसीको देनेसे मेरी कुछ भी हानि न होती हो और मेरे पड़ौसीको वह मिल जानेसे अुसकी अुत्तम सुविधा हो जाती हो, तो भी मुझसे वह स्वार्थ नहीं छोड़ा जाता; मेरा जी ही नहीं होता। कदाचित् मुझमें अिस वक्त कहीं सद्बुद्धि आ भी जाय, तो मेरे सगे-सम्बन्धी या अड़ोस पड़ौसके लोग मुझे दुनियादारीकी चतुराअी सिखानेके लिये आते हैं—'तू पागल तो नहीं हो गया है? अिस तरह कर्ण-सा दानवीर बनकर परोपकार करने लगेगा तो लोग तुझे दिन-दहाड़े बावाजी बना देंगे। कुछ बाल-बच्चोंके लिये भी रक्खेगा या नहीं? अरे! अुसका तो काम ही रुक रहा है, पाँच-सात सौ रुपये माँग ले अुससे। तेरा तो हक़ ही है; छोड़ता क्यों है? न दे रुपये तो सोता रहे अपने घरमें! और हमें गरज ही क्या पड़ी है? जमीन अपनी कहीं भागे थोड़े ही जाती है।' स्वार्थ-धर्मकी यह आज्ञा अस्वीकृत हो ही नहीं सकती। स्वार्थ-धर्मके आगे पड़ौसी-धर्म फीका पड़ता है अथवा नष्ट हो जाता है। अिसलिये अिस युगका नाम कलियुग पड़ा है। कलि का अर्थ है कलह।

दो कुटुम्बोंके बीच जब विवाह-सम्बन्ध जोड़ा जाता है, तब भी यही दशा होती है। जो पराये थे वे सम्बन्धी हुअे, अतअेव वहाँ तो प्रेम-धर्मका व्यवहार चाहिये; पर नहीं, वहाँ भी व्यवहार-रीतिकी कलह अुत्पन्न होगी ही। मान-सम्मानमें कहीं छोटी-से-छोटी रीति भी रहने न पावे। मालिकके यहाँ गालियाँ भी सुननी पड़ती हो तो परवा नहीं, दफ्तरों में अफ़सरोंकी फटकारें नीचा सिर करके सुन सकते हैं, परन्तु समधीके पाससे तो रीतिके

अनुसार पूरी चीजें जरूर ही मिलनी चाहिये; नहीं तो दूल्हको लौटा ले जानेको तैयार हो जाते हैं। विवाहका मंगलाचरण होता है अीर्ष्या और डाहसे! यही दशा है जातियोंकी। पारस्परिक अविश्वास और असीम स्वार्थ-परंता। किसीमें अितनी हिन्मत ही नहीं कि अपने स्वार्थको छोड़ दे। यह कायरता! जहाँ देखिये तहाँ यह बुराअी फैली हुअी है।

जब घरोंमें और जाति-पाँतिमें यह दशा है, तब राष्ट्रों-राष्ट्रोंके बीच दूसरा और हो ही क्या सकता है? यदि पड़ोसी राष्ट्र निर्बल हो तो अुसपर जरूर ही आक्रमण करना चाहिये। यदि वह बलवान हो तो हमेशा अुसका डर मनमें रखना चाहिये और अुसके खिलाफ़ दूसरे ताक़तवर राष्ट्रोंके साथ मिलकर कोअी षड्यंत्र करना चाहिये। यह भी नहीं कि समान-बल पड़ोसी हो तो शांति से रहे। क्योंकि मनुष्यको समानता कब प्रिय लगती है? वहाँ भी अेकसे दूसरा आगे बढ़नेके लिये प्रयत्न करता रहता है अिसीलिये अन्तमें वहाँ भी अविश्वास और विरोध आ जाता है। हरेक पक्ष यही कहता है, कि अपने बचाव तथा आत्म-रक्षणके लिये हमें अितना तो करना ही पड़ता है। दो प्रबल राष्ट्रोंके बीच यदि अेक छोटा-सा राष्ट्र हो, तब प्रबल राष्ट्र यों विचार करते हैं:—'यदि मैं अिसे न खालूँ तो वह (दूसरा) तो जरूर ही अिसे खा लेगा और अिसे खाकर बलिष्ठ बना हुआ वह मुझपर जरूर आक्रमण करेगा। अिसलिये क्या बुरा होगा, यदि मैं ही वह अन्याय करूं? जितने साम्राज्य बढ़ते हैं, सब अिसी नियमानुसार बढ़ते हैं।

स्वार्थ और अन्यायकी यह प्रतिस्पर्धा आज यूरपमें सर्व-व्यापी हो गअी है और अिसी सिद्धांतपर अुसकी राजनीति चलती है। किन्तु अिससे यह मान लेना भूल है कि यह तो मनुष्य-स्वभाव ही है। भले ही यूरप आज सुव्यवस्थित पाशविक शक्तिको सुधार मान ले, पर सच्चा सुधार तो प्रेम-धर्म

और पड़ोसी-धर्ममें ही है। हमें श्रद्धापूर्वक अपने अंदर अिस पड़ोसी-धर्मका विकास करना चाहिये। जो सज्जनता दिखलाते हों अुनके साथ मैत्री और जो दुर्जन बन गये हों अुनके साथ असहयोग करना, यही प्रेम-धर्मका नियम है। प्रेम-धर्म सहानुभूति रखता है, सहायता देता है, परन्तु दीन बनकर सहायताकी अपेक्षा नहीं करता। प्रेम-धर्म निर्भय होता है अिसीलिये वह अमर्यादित है। हम जिससे प्रेम करते हैं, यदि अुसकी शक्ति बढ़ती है तो हमें भय नहीं होता; बल्कि हमारा मित्र जितना ही निर्बल होगा, अुतने ही हम कमजोर माने जायँगे।

जहाँ अविश्वासका वातावरण हो, वहाँ अुसे दूर करनेके लिये प्रेम असाधारण धैर्य और सहिष्णुताका विकास करता है; नम्र बनकर वह चढ़ता है और असीम स्वार्थ-त्याग करके विजयको प्राप्त करता है। प्रेम-धर्ममें थोड़े दिनके लिये गँवाना जरूर पड़ता है, लेकिन अंतमें अुसकी अजय विजय होती है। अिस प्रेम-धर्मका अुपयोग कुटुम्बसे लेकर राष्ट्रोंके संबंध पर्यन्त फैला देना, यही सब सुधारोंका मूल है; और वही फल भी है।

५

सुधारकी सच्ची दिशा

मनुष्यकी स्वाभाविक वृत्तियाँ और अुसकी सद्बुद्धि अेक-दूसरेके अनुकूल (समरस) जब होंगी तब होंगी, आज तो वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। आज तो अिन दोनोंमें विरोध है। आज तो जो मीठा लगता है वह पथ्यकर नहीं होता। जो सुखप्रद प्रतीत होता है वह कल्याणकर नहीं होता। जो प्रेय होता है वह श्रेय नहीं होता। कर्त्तव्य-मार्ग दुःखदायी लगता है और सुखका मार्ग हितकर नहीं लगता। हमारी स्वाभाविक वास-

नाञें हमें आप-ही-आप पशु-जीवनकी ओर खींचकर ले जाती हैं। ईश्वरने मनुष्यको वह विवेक-बुद्धि दी है, जो पशुको नहीं दी। पशुओंको कार्याकार्य-विचार नहीं होता; मनुष्यको यह विचार करना पड़ता है। पर हमारी वासनाञें कञी बार ञितनी प्रबल हो जाती हैं कि विवेक-बुद्धिको दबाकर वे तर्क-शक्तिको अपने अधीन कर लेती हैं और यह तर्क-शक्ति न्याया-न्यायका किसी तरह विचार न करनेवाले पेट-भरू वकीलके समान वासनाओंका पक्ष लेती है। जो सुखकारी है वही कल्याण-कारी है; जो प्रेय है वही श्रेय भी है—ञिस तरहकी दलीलोंकी पूर्ति करनेमें तर्क-शक्ति खर्च होती है। त्यागके आनन्दको भूल-कर भोगकी लालसा वृद्धि पाती है। तर्क-शक्ति भी मधुरवाणीसे कहती है—'मनुष्य-जन्म भोग हीके लिये तो है, नाना प्रकारके विषयोंका ञुपभोग करना मनुष्यका हक़ है। ञिस अधिकार-का लाभ ञुसे जरूर ञुठाना चाहिये। भोग हीमें तो मानव-जन्मकी सफलता है। भोग-क्षमता ही संस्कृति है, यही सुधार है।' ञिस तरह अधर्मको धर्म समझनेसे आत्मवंचना होती है।

ञिस तरह बहुतेरे लोग वासनाओंके वश हो गये हैं। अब तो किसे 'सु' कहें और किसे 'कु' कहें यही नहीं सूझ पड़ता। ञुच्छृङ्खल मनको तर्क-शक्तिका आधार मिलनेपर आनेवाली अनर्थ परम्पराको कौन रोक सकता है? जिससे आत्म-संयम नहीं हो सकता, ञुसे मनुष्य-जाति कितना ऊँचा चढ़ा सकती है। ञिसकी कल्पना किस तरह हो सकती है। ञैसे लोग मानव-जातिका ध्येय कैसे निश्चित कर सकते हैं? मानव-जातिका श्रेय क्या है? ञुच्च वृत्तियाँ कौन-सी हैं? आर्य-जीवन कैसा होता है? अर्हत् पदका मार्ग कौन-सा है? समाज-का अन्तिम ध्येय क्या है? आदि विषयोंका निर्णय ञैसे अन-धिकारी मनुष्य नहीं कर सकते। धन-लोभके कारण कृपणका

हृदय शून्य हो जाता है। अुससे यदि ये ही सवाल पूछेंगे तो वह कहेगा—"धन! द्रव्य ही तो मानव-जातिका ध्येय है। 'अर्थो हि नः केवलम्'।" शृङ्गार-पूर्ण अुपन्यासोंको पढ़नेवाले स्त्री-लंपट मनुष्यसे यदि हम पूछेंगे तो वह भी तुरन्त "रम्या रामा मृदुतनुलता" की बातें करने लगेगा। अिसी तरह क्रिकेट और टेनिसके खेलनेवाले कहेंगे कि हमारे खेलों हीसे मनुष्य की अुन्नति होगी। गाना-बजाना, ताश या शतरंज खेलना, घुड़दौड़ करना और चिड़िया पालना अित्यादि धुनों हीमें जो लोग मस्त रहते हैं अुनसे पूछा जाय कि, 'भाइयो! मानव-जाति का अंतिम ध्येय क्या है?' और फिर अुनमेंसे अेक-अेकके जवाब सुन लिये जायँ!

अैसे अनासक्त साम्यस्थित मनवाले महात्मा ही, जिन्होंने पशु-वृत्तिपर विजय प्राप्त की है और जिनका मन क्षुद्र स्वार्थ-के वश नहीं है, यह ठीक समझ सकते हैं कि मनुष्यका श्रेय किसमें है। जिस तरह वादी-प्रतिवादी यह नहीं देख सकते कि मुकदमेमें न्याय किसके पक्षमें है, निष्पक्ष पंच ही अुसे देख सकते हैं, अिसी तरह मानव-जातिका ध्येय क्या है, अिस बात-को निरपेक्ष और धर्मज्ञ स्मृतिकार—समाजके व्यवस्थापक—ही बतला सकते हैं। मनुष्य-जाति अपनी पशु-वृत्तिपर विजय प्राप्त करके कितनी ऊँची चढ़ सकती है, यह बुद्ध, अीसा और तुकाराम जैसे अनेक महात्माओंने प्रत्यक्ष उदाहरणसे बतला दिया है। संसारके सभी देशोंमें, सभी जातियोंमें, सभी धर्मोंमें और सभी युगोंमें अैसे दैवी पुरुष अुत्पन्न हुअे हैं। अिसपरसे सिद्ध है कि प्रत्येक मनुष्य प्रयत्न करनेपर अुस भूमिकातक पहुंच सकता है।

कहा जाता है कि मनुष्य-प्राणी अपने पुरुषार्थसे क्या-क्या कर सकता है, कहाँतक अपनी अुन्नति कर सकता है, अित्यादि

का यथार्थ पाठ देनेके लिये तथा मनुष्य-प्राणीके लिये अुसका ध्येय निश्चित कर देनेके लिये परमेश्वर अवतार लेकर, मानव-देह धारण करके, मानवी कृतियां करता है। अिस कथनका रहस्य भी यही है। ध्येय तो मानव-जातिकी अुन्नतिकी परि-सीमा है। अुसे किसी खास समय खास व्यक्ति और अुस व्यक्तिकी शक्तिके अनुसार बदलना नहीं होता। अेक भी मनुष्य यदि अिस ध्येयको प्राप्त करके दिखा दे तो समझना चाहिये कि वह असम्भव नहीं है।

अिस दृष्टिसे देखें तो मनुष्यके जीवन-क्रमके दो सिरे होते हैं। अेक सिरेपर विषय-लोलुपता, आहार-निद्रा-भय आदि पशुव्यवहार-परायणता, स्वार्थ तथा हक़ होता है; दूसरी ओर निर्विषयता, निर्भयता, अिन्द्रिय-दमन, परोपकार-परायणता और कर्त्तव्य होते हैं। हरेकको अपनी शक्ति और परिस्थितिके अनुसार अिस अुच्च ध्येयको अमलमें लानेका प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु अपने पीछे रहनेवालोंको जंगली या पापी कह-कर अुनकी हँसी न अुड़ाना चाहिये। अिसी प्रकार अपनेसे अधिक अुत्साही व्यक्तिओंको पागल कहनेसे भी काम न चलेगा। और चाहे कुछ भी हो, अुच्चतम ध्येयको किसी भी समय अशक्य या अप्राप्य करार देना तो सरासर भूल है। क्योंकि यदि हम ध्येयको अेक बार भी अुसके अुच्च आसनसे नीचे गिरा देंगे तो अुसका शतमुखसे नहीं बल्कि अनंत मुखसे विनि-पात हो जायगा। जो स्थिर नहीं वह ध्येय कैसा? और अुसके लिये स्नेह, दया, सुख और जीवन अिन सभीको तिलांजलि देनेको तैयार होने योग्य निष्ठा मनुष्यमें किस तरह अुत्पन्न हो? अिसलिये ध्येयको अपनी अुँचाईसे कभी न गिराना चाहिये। आराध्य-देवताके समान हमेशा अुसीकी अुपासना होनी चाहिये और अुसके साथ अुत्तरोत्तर सालोक्य, सान्निध्य,

सारूप्य और सायुज्य प्राप्त करनेका प्रयत्न होना चाहिये। जो पीछे रह गये हों अुन्हें आगे ले जाना चाहिये। जो आगे बढ़ गये हों अुन्हें अुससे भी आगे बढ़ना चाहिये। ध्येयको पा जाने तक किसीको कभी न रुकना चाहिये।

सभी सामाजिक सुधार अिस अुच्च ध्येयकी, कर्त्तव्यकी अिन्द्रिय-निग्रहकी और संयमकी दिशामें होने चाहिये। जो नीचे हों अुन्हें अूँचा अुठा देना चाहिये। जो अूँचे हों अुन्हें नीचे गिराना, पवित्र ध्येयको छोड़कर सुखप्रद देख या मानकर अधोगामी ध्येयकी अुपासना करना तो कुधार है,सरासर अध:पात है।

आजकल सुधार तो सब चाहते हैं, परन्तु 'सु' और 'कु' के बीचके भेदको कोअी भी नहीं देखते। पिनल-कोडने जिसे अपराध नहीं माना, कल पास होकर आज ही से रौब गाँठनेवाले डाक्टरोंने जिसे निषिद्ध नहीं समझा वह सब करनेका हमें अधिकार है—हम वह ज़रूर करेंगे। पूर्व-परम्परा, अुच्च मनोवृत्ति, जिसकी रक्षा और विकास आजतक किया अुस पवित्रताकी भावना, शास्त्र (रूढ़ियोंका तो पूछना ही क्या,) सबको हम धता बता देंगे; यह है आजके हमारे समाज-सुधारकोंकी मनोवृत्ति। यह मैं नहीं कहना चाहता कि अिनके कार्यक्रमकी सभी बातें त्याज्य हैं, मगर, अिन सभीकी जड़में जो वृत्ति है, अुसके प्रति विरोध अवश्य है। अपने सभी सामाजिक व्यवहारमें न्याय और अुदारता होनी चाहिये। किसीपर टीका-टिप्पणी करते समय—मनुष्य-प्राणी स्खलनशील है, अिन्द्रिय-समूह बलवान है, परिस्थितिके सामने मनका निश्चय स्थिर रहना कठिन है, आदि सभी बातों पर ध्यान देकर, यदि किसीसे कोअी भूल हो गअी हो तो—अुस पर क्रोध और तिरस्कार हमें न करना चाहिये; बल्कि दया, अनुकम्पा और सहानभूति ही दिखानी चाहिये। जहाँ सामाजिक

अन्याय हो रहा हो, वहाँ अनाथोंका रक्षण-पालन करना भी हमारा कर्त्तव्य है। सामाजिक आदर्शको नीचे गिराना कदापि योग्य नहीं है। और जो सुधार करते हैं वह असे होने चाहिये जिनसे सामाजिक न्याय, पवित्रता और सामर्थ्य बढ़े।

५

संयममें संस्कृति

संयम संस्कृतिका मूल है। विलासिता, निर्बलता और अनुकरणके वातावरणमें न संस्कृतिका अुद्भव होता है और न विकास ही। जिस तरह पचीस वर्ष तक दृढ़ ब्रह्मचर्य रखनेवालेकी सन्तान सुदृढ़ होती है, अुसी तरह संयमके आधारपर निर्माण की हुआ संस्कृति प्रभावशाली और दीर्घजीवी होती है।

ऋषियोंने तप और ब्रह्मचर्यके द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करके अेक अमर संस्कृतिको जन्म दिया। बुद्धकालीन भिक्षुओं और भिक्षुणियोंकी तपश्चर्याके परिमाण-स्वरूप ही अशोकके साम्राज्यका और आर्य-संस्कृतिका विस्तार हो पाया। शंकराचार्य की तपश्चर्यासे हिन्दू-धर्मका संस्कार हुआ। महावीर स्वामीकी तपस्यासे ही अहिंसा-धर्मका प्रचार हुआ। सादा और संयमी जीवन बिताकर ही सिख गुरुओंने पंजाबमें जाग्रति की। त्यागके झंडेके नीचे ही सीधे-सादे मराठोंने स्वराज्यकी स्थापना की। बंगालके चैतन्य महाप्रभु सुख-शुद्धिके लिये आवश्यकतासे अधिक अेक भी हर्र न रखते थे, अुन्हींसे बंगालकी वैष्णव-संस्कृति विकसित हुआी। संयम हीमें नयी संस्कृतियोंको अुत्पन्न करनेका सामर्थ्य है। साहित्य, स्थापत्य, संगीत, कला और विविध धर्म-विधियाँ संयमकी अनुगामिनी हैं। पहले तो संयम कर्कश और

नीरस लगता है, परन्तु अुसीसे संस्कृतिके मधुर फल हमें प्राप्त होते हैं।

जो लोग कलाके साथ पक्षपात करके संयमकी अप्रतिष्ठा कर देना चाहते हैं वे कलाको भ्रष्ट कर देते हैं और संस्कृतिकी जड़ ही पर कुठाराघात करते हैं।

६

पञ्चमहापातक

शास्त्रोंमें अनेक तरहके पापोंका वर्णन है। झूठ बोलना, हिंसा करना, चोरी करना अित्यादि अनेक पाप तो हैं ही किन्तु पापोंका अेक और भी प्रकार है,-जिसका नामोच्चार और निषेध होना जरूरी है। ये पाप अिन सामान्य पापोंसे कम भयंकर नहीं हैं। भयभीत दशामें रहना, अन्याय सहना, पड़ौसीके साथ होनेवाले अन्यायको चुपचाप देखते रहना, आलस्यमें जीवन बिताना और अज्ञानको दूर करनेका प्रयत्न न करना—ये भी पाँच महापाप हैं। अिनमें अपनी आत्मा हीके प्रति द्रोह है। संसारमें जहाँ-जहाँ अन्याय होता है, वहाँ-वहाँ अत्याचार करनेवाला स्वयं तो पापी होता ही है, पर अत्याचारको सह लेनेवाला भी कम पाप नहीं करता। जो मनुष्य स्वयं दुर्बल या डरपोक बनकर दूसरोंको अत्याचार करनेके लिये ललचाता है, वह भी समाजका कम द्रोह नहीं करता। यात्री-समूहमें जो मनुष्य सबसे धीरे चलता हो, सभी समुदायको अुसीकी चालसे चलना पड़ता है। निर्बल लोग संघकी गतिको रोकते हैं। ठीक अिसी तरह, जो लोग मनुष्यकी जीवन-यात्रामें ढीले और डरपोक होते हैं, वे भी मनुष्यकी प्रगतिको रोकते हैं। जैसे हम निर्बलोंका साथ पसन्द नहीं करते, वैसे ही अुन्नति-मार्गपर चलनेवाली जातियाँ निर्बल और अन्याय-सहिष्णु लोगोंको पसंद नहीं करतीं।

परन्तु मानव-समुदायमें चुनाव करना किसीके हाथमें नहीं। अिस संघको तो अीश्वर हीने तैयार किया है और वही स्वयं अिसका नेता भी है। अिसलिये जितना ही हम अिस संघसे पीछे रहते हैं अुतना ही हम अुस संघके नायक का द्रोह करते हैं।

अज्ञानी रहना भी अेक महापाप है। वह भी संघ-द्रोह या समाज-द्रोह ही होगा, यदि हम अुतना ज्ञान भी प्राप्त न करलें कि जितना हम कर सकते हैं, अथवा जितना जीवन-यात्राके लिये निहायत जरूरी है। विशेषकर जिनके सिरपर अनेक मनुष्योंको राह बतलाकर अुन्हें ले चलनेका अुत्तरदायित्व पड़ा हुआ है, जो समाजके अग्रगण्य नेता समझे जाते हैं, यदि वे संसारकी स्थिति से, समाजके वर्तमान आदर्शसे और संसारके सम्मुख समुपस्थित बड़े-बड़े प्रश्नोंसे अभिज्ञ न रहें तो अुन्हें वही पाप लगेगा जो समाजघातका होता है। हिन्दू-समाजमें राजा और साधु दोनों वर्ग समाजका अगुआपन करते आये हैं। अेक श्रीमान् होता है, दूसरा अकिञ्चन। अेक बड़े परिवारवाला है तो दूसरेका परिवार ही नहीं होता। अेक सत्ताके बल कार्य करता है, दूसरा सत्यके बल। अेकमें प्रभुता होती है, दूसरेमें होता है वैराग्य। अैसे परस्पर भिन्न जीवनवाले और भिन्न आदर्शवाले वर्गके हाथमें समाजका अगुआपन सौंपकर प्राचीनकालमें समाज-व्यवस्थापकों-ने समाजकी अुन्नतिका मार्ग सुरक्षित कर दिया था। किंतु दुर्भाग्य-वश अिन दोनों वर्गोंको अपनी सम्पूर्णताके भ्रमने पछाड़ा। दोनों वर्गोंने अज्ञानी रहनेका पाप किया और समाज-द्रोह अुनके सिरपर आ पड़ा। साधुगण षट्दर्शन-प्रवीण भले ही हों, भले ही दश ग्रन्थ अुन्हें मुखाग्र हों, किंतु जबतक वे जगत्की परिस्थितिको न समझेंगे, समाजकी नब्जकी परीक्षा न कर सकें और समाजको अुसकी अपनी भाषामें यह न समझा सकें कि अुनकी अुन्नति-का मार्ग किस दिशामें है, तबतक वे अज्ञानी ही हैं। स्वामी

विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थ जैसे साधुओंकी अितनी प्रतिष्ठा क्यों हुआी ? अिसीलिये कि वे अपने सामाजिक कर्त्तव्यों को पहचानते थे।

राजाओंकी भी यही बात है। पुरुषार्थके बाद लक्ष्मी आती है, अिस बातको भूलकर लक्ष्मी अिकट्ठी करनेकी धुनमें वे पुरुषार्थको खो बैठे हैं। समाजका नेतृत्व करनेके बदले असे दबाने हीमें अुन्होंने अपनी शक्तिका व्यय किया है।

७

खून और पसीना

हम शरीरका मैल पानीसे धो सकते हैं, कपड़ोंका मैल साबुनसे धो सकते हैं, बर्तनोंके दाग़ अिमली या किसी अन्य खटाअीसे मिटा सकते हैं, परन्तु सामाजिक दोष और राष्ट्रीय पाप किस पदार्थसे धोये जा सकते हैं ? अुसके लिये शाब्दिक प्रायश्चित्त काफ़ी नहीं है। नदियों या समुद्रमें जाकर स्नान कर लेनेसे काम नहीं चल सकता। वह तो अन्तःकरणके प्रायश्चित्तसे और आन्तरिक परिवर्तनसे ही साफ़ हो सकता है। राष्ट्रीय और सामाजिक पापको धोनेके लिये साधारण पानी काम नहीं दे सकता, वह तो हमारे खून और हमारे पसीनेसे ही धोया जा सकता है।

अिसीसे अीश्वरकी योजनाके अनुसार प्रत्येक धर्मकी स्थापनाके पूर्व मनुष्योंका गरम खून बहा है। खूनकी दीक्षा हीसे हृदय पलटता है और पाप धुल जाते हैं। खून हीसे अिस्लाम-धर्म स्थापित हुआ, खून हीसे यूरोप जैसी कड़ी जमीनमें अीसाअी-धर्मकी जड़ मजबूत हुअी, खून हीसे सिख-धर्म फूला-फला, और अीश्वरेच्छा यही मालूम होती है कि सत्याग्रहभी खून हीके द्वारा विश्वमान्य होगा।

खून और पसीनेमें कोअी भेद नहीं है। जैसे दूध और घी दोनों खून और माँसके निचोड़ हैं, वैसे ही पसीना भी मनुष्यके खून हीका द्रव है। किसीपर जबरदस्ती करके अुससे सेवा लेना, अुसका पसीना बहाना, अुसका वध करनेके समान ही है। फर्क यही है कि वह सुधरा हुआ, सूक्ष्म और धीरे-धीरे असर करनेवाला है। गुरु-का-बागमें डण्डोंकी मारसे सरकार खून बहावे और हिन्दुस्तानकी दीन प्रजाको अपने सैनिक खर्चको चलानेके लिये निचोड़ डाले तो अुसमें कोअी तात्त्विक भेद नहीं है। अिसी प्रकार अफ्रिकाके जंगली मनुष्योंको मारकर खाने और सेठोंके गुलामोंकी मजदूरीसे पैसे खानेमें भी कोअी तात्त्विक भेद नहीं। किसी देशकी प्रजाको गुलाम बना, अुससे जबरदस्ती मजदूरी लेकर, अुसे शर्तबन्द कुलियोंकी हालतको पहुँचा देना भी अुतना ही बड़ा मनुष्य-वध है, जितना कि किसी देशपर चढ़ाअी करके अुसके लाखों निवासियोंको जानसे मार डालनेमें है।

दूसरेके खूनको बहानेके समान कोअी महापाप नहीं। अिसी तरह इच्छापूर्वक और ज्ञानपूर्वक अपने खूनका बलिदान करनेके बराबर प्रायश्चित्त भी नहीं। जिस प्रकार दूसरेका खून लेनेके बदले अुसका पसीना लेनेका अेक नया तरीक़ा संसारमें निकला है, अुसी प्रकार अपने खूनका बलिदान करनेके बजाय अपना पसीना दे देना अधिक सशास्त्र प्रायश्चित्त है। पापी मनुष्य जब चाहे तभी दूसरेका खून कर सकता है; परन्तु दूसरेका पसीना तो अुसके सहयोग हीसे अुसे मिल सकता है। अिसके विपरीत, जहाँ प्रायश्चित्तमें हम खून देनेको तैयार होते हैं वहाँ हम अपना खून तभी दे सकते हैं जब जालिम हमारी सहायता करे। पंजाब-सरकारकी सहायता न होती तो शूरवीर अकालियोंको धर्मके लिये अपना खून अर्पण करनेका अवसर कैसे मिलता?

परन्तु हम अपना पसीना, तो जब चाहें स्वेच्छासे बलिदानमें दे सकते हैं। अिसमें अत्याचारीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं। राष्ट्रीय प्रायश्चित्तमें आत्मशुद्धिके लिये, स्वतन्त्र देवीके प्रीत्यर्थ बलिदानमें अपना पसीना, अपना परिश्रम, अविश्रान्त श्रम अर्पण करनेके लिये अपने प्रति निर्दय बनकर काम करने हीका नाम रचनात्मक कार्यक्रम है। रचनात्मक कार्यकी वीरता बाहरसे नहीं दीखती, किन्तु अुससे अुसका महत्त्व कम नहीं हो जाता। जिसे स्वराज्यकी आवश्यकता हो, अुसे सदा अपना खून देनेकी तैयारी रखनी चाहिये; और जबतक वैसा मौक़ा नहीं मिलता, रचनात्मक कार्यमें अपना पसीना बहाते रहना चाहिये, और साथ ही यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मैं न तो किसीका खून बहानेका पाप करूँगा और न किसीसे अुसका पसीना बहा कर अनुचित लाभ ही अुठाअूँगा।

८

अेशियाकी साधना

दक्षिणमें ब्राह्मण-अब्राह्मणका झगड़ा कितने ही वर्षोंसे चल रहा है। ब्राह्मणोंको तो हम जानते ही हैं। परन्तु अब्राह्मण-वर्ग कहाँसे अुत्पन्न हो गया? अब्राह्मण नामकी कोअी अेक जाति तो है नहीं, फिर भी एक अब्राह्मण-पक्ष खड़ा हो गया है। ब्राह्मण और अब्राह्मणके प्रश्न में जरा भी पड़े बिना हम कह सकते हैं कि ब्राह्मणों में ब्राह्मणत्वका अभिमान और इस बातका भान ही कि हम दूसरोंसे जुदे हैं, अब्राह्मण-वर्गके खड़े होनेका एक कारण है। ब्राह्मणोंमें यह जातिका अभिमान तीव्र होनेके कारण दूसरोंमें विरुद्ध भावना पैदा हुअी है।

आजकी हमारी अेशिया-विषयक भावना भी ऐसी ही है।

जबसे यूरपके लोग भौतिक शास्त्रों और आसुरी राजनीतिमें निपुण हुए, तबसे अुन्होंने अपने अन्दर परस्पर मत्सर और वैरके होते हुअे भी आम तौरपर अपनी एकताको अच्छी तरह कायम रक्खा है, और यूरपके बाहरी देशोंपर धावा बोल दिया है। जो लोग इस आक्रमणका शिकार हुअे हैं अुनमें अपने अन्दर अैक्य कर लेनेकी भावना आगे-पीछे अवश्य हो जायगी; और यही कारण है जो हमारे अन्दर अेशियाकी अेकताकी कल्पना फैलने लगी है। अेशियाकी अेकताकी कल्पनाके मूलमें यदि यही अेक कल्पना हो, तो भी वह अेकता सकारण तो मानी जा सकती है, परन्तु होगी वह कृत्रिम ही।

परन्तु अेशियाकी अेकता युरोपियोंके उत्कर्ष जितनी आधुनिक नहीं; वह तो बहुत ही पुरानी और गहरी है। चीन और जापान, रूस और मध्यअेशिया, तुर्किस्तान, अरबस्तान, ईरान और हमारा हिन्दुस्तान—ये सभी देश प्राचीन कालसे परस्पर अेकताके सूत्रमें बँधे हुअे हैं। पर उस वक्त यूरप जुदा नहीं था। यूरेशिया (यूरप + अेशिया) अेक अखण्ड भूखण्ड था और, यद्यपि आज वह उतना अखंड न रह गया हो तो भी, अन्तमें वह अखंड ही होने वाला है।

कुछ लोगोंके मनमें यह विचार आता है कि अभी हमें स्वराज्य नहीं मिला, हमारी म्युनिसिपैलिटियां भी हमारे हाथ में नहीं हैं। घरके अन्त्यजोंको हम अपने समाजमें सम्मिलित नहीं कर सके हैं—अैसी स्थितिमें सारे अेशियाके लिये कहाँ विचार करते फिरें? परन्तु यह आक्षेप ठीक नहीं है। संसारकी आजकी स्थितिका विचार करके भविष्यका विचार करते समय यदि समस्त संसारके साथ हमारे सम्बन्ध ध्यानमें लेकर विचार किया जाय तभी हमें अपना मार्ग साफ दिखाई दे सकता है। फिर हम बाहरी संसारसे चाहे कितने ही अलग रहना चाहते

हों, तो भी संसार कहाँ अैसा है जो हमें अलग रहने दे? और हमारा सम्बन्ध भी अैसी सल्तनतके साथ जुड़ा है जो बिल्लीकी तरह एक-एक घर के दूध और घी चख आती है। इसलिये इस बातका भी विचार कर लेना ज़रूरी है कि आज पड़ोसी देशों-के साथ हमारा सम्बन्ध किस तरहका है और यदि हमारी परिस्थिति हमारे क़ब्ज़ेमें आ जाय तो हम उनके साथ कैसा सम्बन्ध रक्खेंगे?

बहुतेरोंका कहना है कि युरोपीय और हिन्दुस्तानी दोनोंके हित अेक-दूसरेके विरोधी होनेके कारण दोनों जातियाँ चाहे जितनी लड़ें, परन्तु दोनोंका जीवनके आदर्शके विषयमें खास तरहका अेक मत है। पर दोनोंके राजनैतिक आदर्श और सामाजिक कल्पनाओंमें, व्यापक दृष्टिसे देखा जाय तो, अेशियाके अन्य देशोंकी अपेक्षा साम्य और आकर्षण अधिक है। चीनी और भारतीय लोगोंमें जितनी सामाजिक अेकता है, अुससे कहीं अधिक युरोपीय और भारतीय लोगोंमें है। हिन्दू-धर्म और अिसाअी-धर्म अिन दोनोंमें जितनी समानता है, अुतना हिन्दू-धर्म और अिस्लाममें नहीं। राष्ट्रीय अथवा सामाजिक आकर्षण देखते हुअे, हम अेशियाके और देशोंकी अपेक्षा यूरपके अधिक निकट हैं। अिसलिये हमें यूरपके साथ लड़ झगड़ कर भी अपना सम्बन्ध बढ़ाना चाहिये। अेशियाअी अेकता भौगोलिक अथवा प्रादेशिक अेकता है, परन्तु यूरपके साथ हमारी अेकता उच्च दृष्टिसे देखनेपर सांस्कृतिक अथवा जातीय है। जैसे अेक लकड़ीके दो सिरे परस्पर-विरुद्ध दिशाओंमें होते हुअे भी जिस तरह लकड़ी तो अेक ही हैं, अुसी तरह युरोपीय और भारतीय आदर्श, परस्पर-विरोधी होनेपर भी, अेक ही आर्य-आदर्शकी शाखाअें हैं।

यह दलील निःसार नहीं है यूरपकी वर्तमान संस्कृति

आसुरी है (राक्षसी नहीं) और हिन्दुस्तानकी संस्कृतिका आधार-भूत आदर्श दैवी है—यदि यही मान लिया जाय, तो भी देव और असुर दोनों भाअी-भाअी हैं, यह बात हमारे पुराणकर्ताओंने ही स्वीकार की है।

यूरपके साथ हमारा परिचय मजबूरीकी हालतमें बढ़ा, अिसलिये हम यूरपके साथ थोड़े-बहुत अंशोंमें परिचित हुअे। अिसी तरह अिस्लामके साथ भी हमारा परिचय अनिच्छापूर्वक ही हुआ, और हम अिस्लाम की क़द्र करना सीखे। अब अीश्वर का सवाल है कि क्या संसारकी अेकताका अनुभव करनेके लिये चीनी संस्कृतिके साथ स्वेच्छापूर्वक परिचय प्राप्त करना है, या वह भी मैं ज़बरदस्ती करा दूँ? यदि अपने-आप परिचय बढ़ाओगे तो स्वतन्त्र रहोगे; ज़बरन बढ़वाना चाहोगे तो अुसका मूल्य चुकाना पड़ेगा।

यदि अेशिया, यूरपके सर्वभक्षी धनलोभ और सत्तालोभसे डरकर यूरपका सामना करनेके लिये अेक हो जायँ, तो वह आसुरी संघ होगा; क्योंकि वह संघ यूरपकी तरह ही स्वार्थमूलक होगा, जिसमें क्षण-क्षणमें संधि और विग्रहके रंग बदलते रहेंगे और अन्तमें सारा यूरप अेक तरफ़ और सारा अेशिया दूसरी तरफ़ होकर अेक अैसा महायुद्ध या अतियुद्ध चेतेगा कि जिसके अन्तमें मनुष्य-जाति और मानवी संस्कृतिका लगभग संहार हो जायगा और हज़ारों वर्षोंका मानव-पुरुषार्थ मटियामेट हो जायगा। सर्वोदयका आदर्श अपने सामने रखनेवाले लोग भला अैसा क्यों होने देंगे?

यूरपका विरोध करें या न करें, मनुष्यजातिकी अेकताको दृढ़ करनेके लिये, दया-धर्म या शान्तिका साम्राज्य स्थापित करनेके लिये, अेशियाको अेक होजाना चाहिये।

और अेशिया अेक होना चाहता भी है। हमारा ख़िलाफ़तका

आन्दोलन अेक तरहसे अेशियाअी अेकताकी नींव थी। अिस्लाम के साथका हमारा सम्बन्ध पुराना है। खिलाफ़त की तहरीकमें हिस्सा लेकर हमने अुसे पूर्ण करनेका प्रयत्न किया।

हम लोगोंने अेशियाकी अेकताका प्रारम्भ खिलाफ़तसे किया है। किन्तु यह अेकताकी कल्पना कुछ आजकी नहीं है। दिग्विजयी आर्य राजाओंने चीनसे मिस्रतक और अुत्तर ध्रुवसे कुछ नहीं तो लंका और बालीद्वीप तक सांस्कृतिक अेकता स्थापित करनेके प्रयत्न किये हैं। और अिस अेकतामें आर्य लोगोंने अपने पड़ोसियोंको जितना दिया है, अुतना अुनके पाससे निःसंकोच लिया भी है; अलबत्ते लिया है अपनी उच्च अभिरुचिके अनुसार पसन्दगी करके। मैं मानता हूँ कि धर्मराजका राजप्रासाद बनानेवाला मयासुर चीनदेशीय था और अुसकी स्थापत्यकला बृहस्पति तथा शुक्राचार्य दोनोंकी कलासे भिन्न थी। यह भी माना जाता है कि चीन देशकी चित्रकारी और नृत्यकलाका प्रभाव भारतीय कलाओंपर हुआ होगा।

अितिहासकारोंकी रायके अनुसार अेक समय अेशियाकी कला-कुशलताका केन्द्र समरकन्द और खोतानके आसपासके देशमें था। वहाँसे व्यापारके अनेक मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओंमें जाते थे। अेक रास्ता चीनकी ओर जाता था, अेक हिन्दुस्तानकी ओर आता था, अेक मिस्र देशमें जाता था, और अेक यूरपमें। अिस तरह वाणिज्य-व्यापारके साथ संस्कृतिका भी विनिमय अिस मध्यभूमिमें होता था। जनार्दनकी अिच्छा हुअी कि थोड़े दिनोंके लिये ये सिरे अेक-दूसरेसे अलग होकर कुछ-कुछ भिन्नता की शिक्षा प्राप्त करें। बस, तुरन्त ही बालूके समुद्र अुछलने लगे और अुन्होंने अमू दरिया और सर दरियाके देशको अुजाड़ कर दिया। आज भी, जब भारी आँधी आती है, और बालूके परत अुड़ जाते हैं, इस प्राचीन संस्कृतिके अवशेष वहाँ मिलने लगते हैं।

आर्य लोग पहलेसे ही यात्रा-प्रवीण थे। पहाड़ देखते ही अुन्हें अुसे पार करनेकी अिच्छा हुअे विना नहीं रहती। नदीको देखकर तो अुसके अुद्‌गम-स्थानकी खोज लगाये विना नहीं रहते। आर्योंका देवता अिन्द्र भुज्युको समुद्रके पार ले गया था। आर्य राजा हरेक राजसूय-यज्ञमें चीन और मिस्रके राजाओंको आमन्त्रित करते थे। अशोक राजाने चारों दिशाओंमें बौद्ध-धर्मका प्रचार करने तथा अभयका सन्देश सुनाने के लिये आर्यों और अर्हतोंको भेजा था और अस दिव्य सन्देशको सुननेके बाद दया-मय धर्मराज भगवान् बुद्धके देशकी यात्रा करनेको दिग्‌दिगन्तके यात्री आने लगे थे।

अेशियाकी अेकता साधनेकी सम्पूर्ण शक्ति धारण करनेवाला तत्त्व तो महायान बौद्ध-धर्म ही था। महायान बौद्ध-धर्ममें भगवान् बुद्धका अुपदेश, तन्त्रमार्गकी लोकप्रिय विधियाँ और अनेक देवी देवताओंके वृन्द तो थे ही, पर अिसके अुपरान्त दुखःसन्तप्त मनुष्यको दिलासा देनेवाले और परोपकारी वीर पुरुषोंको आक-र्षित करनेवाले बोधिसत्त्वका आदर्श भी था। जब महायान-पन्थका प्रसार हुआ, तब हिन्दुस्तानका चीन देशके साथ अीरान, बेक्ट्रिया आदि पश्चिम-अेशियाके साथ और स्वर्णद्वीप (ब्रह्मदेशके) साथ, सम्बन्ध घरके आँगनके समान हो गया था। अिसके बाद धर्म-साम्राज्यकी कल्पना अरबस्तानमें पहुँची और अुसने तीन खण्डों में अेकेश्वरवाद (वहदत) और समताका सन्देश पहुँचाया। अब भी यह धर्म मध्यअेशिया और अफ्रिकामें नये-नये लोगोंको अल्लाताला और अुसके नबी साहबके चरणोंमें लानेका काम करता है। जब मुसलमान धर्मका अुदय हुआ तब हिन्दुस्तानके धर्म-धुरन्धर ब्राह्मण और श्रमण तिब्बत और चीनमें जा बसे थे। हिमालय और हिन्दूकुशके अुसपार अनेक मठोंमें हिन्दुस्तानके प्राचीन संस्कृतिके साक्षी-रूप साहित्य, स्थापत्य और कलाके

नमूने मौजूद हैं। हिन्दुओंकी परमपवित्र यात्रा कैलाश और मानसरोवर की है। अिसके द्वारा हिन्दू और चीनी संस्कृतिका लेन-देन अखण्ड रूपसे होता रहता था। आज भी वह कुछ अंशों में चल ही रहा है। जहाँ-जहाँ हिमालय पार करके अुत्तरकी ओर जानेके रास्ते हैं वहाँ-वहाँ आर्य-संस्कृतिके थाने—तीर्थस्थान खड़े हैं।

हिन्दुस्तानका शिष्य-समूह जितना हम जानते हैं अुससे कहीं बड़ा है। चीनी और जापानी लोग हिन्दुस्तानको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। तिब्बत-यात्राके मार्ग फिरसे खुलने लगे हैं। हिन्दुस्तान का अहिंसाका मार्ग सारे संसारमें विख्यात हो गया है। यूरप और अेशियाके बीचके युद्धमें यदि हम अहिंसा-धर्मको प्रधान पद देंगे तो चीन देशमें अुसका प्रभाव जापानके अूपर पड़ेगा, और अिस तरह केवल अेशियाकी ही नहीं, बल्कि सारे संसारकी अेकता करनेके लिये आवश्यक वायुमंडल तैयार हो जायगा।

अेशियाको अवश्य अेक हो जाना चाहिये; किन्तु किस-लिये? स्वार्थके लिये नहीं; यूरपसे युद्ध करके अुसको पादाक्रान्त करनेके लिये नहीं; बल्कि यूरपमें जो स्वार्थ-परायण साम्राज्य-वादकी बाढ़ आ गअी है अुसका नाश करनेके लिये और धर्मका साम्राज्य स्थापित करनेके लिये।

९

वीर-धर्म

हिन्दुस्तानके सभी प्रश्नोंमें दरिद्रताका प्रश्न सबसे बड़ा है। जिस जनताको दो बार पेट-भर खानेको भी न मिलता हो, अुसका चित्त किसी दूसरे प्रश्नकी ओर कैसे जा सकता है? अिस फाकेकशी को दूर करनेपर ही जनताको कुछ सूझ पड़ेगा और अपने जीवन

में सुधार करने योग्य उत्साह असमें आवेगा। सुबहसे शाम तक, एक चौमासेसे दूसरे चौमासे तक, और जन्मसे मरण तक, यही एक प्रश्न गरीब भारतके सन्मुख हमेशा खड़ा रहता है कि असि फाकेकशी को कैसे दूर किया जाय?

देहातमें कई स्थानोंपर मनुष्य कितना ही बीमार हो जाय तो भी वह अेक दिन भी दवा नहीं ले सकता, और न विश्रान्ति ही ले सकता है। क्योंकि, यदि वह विश्रान्ति लेने जाय तो खाये ही क्या? यदि डाक्टरको तीन आने देने हों तो एक दिनकी अपनी खूराक काटकर ही वह दे सकता है। गरीबीके कारण मनुष्यका तेजोवध भी होता है। वह अन्यायको अपनी आंखों देखता तो है, किन्तु उसका प्रतिकार नहीं कर सकता। वह देखता है कि मैं ठगा जा रहा हूं, किन्तु फिर भी वह अुस ठगाअीसे बच नहीं सकता, गरीबीके कारण अुसे स्वाभाविक दया, माया और ममता भी छोड़ देनी पड़ती है। पुत्र-स्नेहवत् पाले हुए बैलों और भैंसोंसे अुनके बूतेके बाहर अुसे काम लेना पड़ता है। निर्दय बनकर अुन्हें मारना-पीटना भी पड़ता है।

और सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह कि गरीब देहातीको अिसीलिये अक्सर ज्यादा खर्च करना पड़ता है कि वह गरीब है। अिसीलिये अुससे अधिक सूद लिया जाता है क्योंकि वह गरीब होता है। अुसे रिश्वत देने पर ही नई-नई सुविधाओंका लाभ मिल सकता है। थोड़े में यों कहना चाहिये कि गरीब होता है, अिसीलिए अुसे और भी अधिक गरीब बनाना पड़ता है। अिसका अुपाय क्या है? कानूनके द्वारा अिसकी रक्षा नहीं हो सकती। शाहजादेसे लेकर बड़े-बड़े अधिकारियों तकके जो बड़े-बड़े दौरे होते हैं, उनसे भी गरीबोंकी हालत नहीं सुधर सकती। अलटे अैसे प्रसंगोंपर तो गरीब बेगार करते-करते अधमरे हो जाते हैं। अदालतें तो गरीबोंको चूसने ही का काम करती हैं। पुलिस-कर्म-

चारी गरीबोंको यमराजके समान मालूम देते हैं। वकील, सूद पर रुपये देने वाले साहूकार, नकल-नवीस, अर्जी नवीस, पटेल पटवारी, वार्षिक अुगाही करनेवाले गुरु, पुरोहित, ज्योतिषि, साधु-संन्यासी, फ़क़ीर, सभी ग़रीब किसानोंपर अपना निर्वाह करते हैं। ग़रीब किसान सारी दुनियाको खिलाता है, परन्तु अुस बेचारेको खिलानेवाला कोअी नहीं मिलता। अुसकी किस्मतमें तो वही फाकेकशी है।

अिसका अुपाय क्या है? हम तो अिसका अेक ही अुपाय बतला सकते हैं, और वह है स्वावलम्बन। किन्तु जिस मनुष्य-पर सारा समाज अवलम्बित है, अुसके सम्मुख स्वावलम्बनकी बात करते हुअे हमें लज्जा आनी चाहिये। अुस बेचारेके अपने बाल-बच्चे होते हैं, माँ-बाप और भाअी-बहन आदि होते हैं, और वह यह सब कुछ अिसलिये सह लेता है कि अुनकी दुर्दशा न होने पावे; वरना वह कभीका या तो बाग़ी बन गया होता, या भभूत रमाकर वैरागी ही हो गया होता। अुसके दुःखों को कौन दूर कर सकता है? हम जो-कुछ भी आन्दोलन करते हैं, वह सब शहरोंमें ही होता है। व्याख्यान शहरों हीमें होते हैं; शिक्षाके लिये ख़र्च शहरों हीमें होता है; समाचार-पत्र भी शहरों हीमें पढ़े जाते हैं; दवा-दरपनकी सुविधाअें भी तो शहरों हीमें होती हैं; सुख और सुविधाके सभी साधन शहरों हीमें मिल सकते हैं। तब अिन देहाती ग़रीबोंका आधार कौन है?

विचार करनेसे ज्ञात होगा कि ग़रीबकी औषधि ग़रीबी ही है। जिस देशमें करोड़ों मनुष्य फ़ाकेकशी कर रहे हैं, अुसमें अुनकी वह फ़ाकेकशी मिटानेके लिये हज़ारों और लाखों युवकों-को स्वेच्छापूर्वक धार्मिकतासे ग़रीबी धारण करनी चाहिये। अंग्रेजी शिक्षाके कारण अिस विषयमें हम बहुत ही कायर बन गये हैं। आज तो मनुष्य मृत्युसे, धर्म-द्रोह और देश-द्रोहसे

अितना ही डरता है जितना कि वह ग़रीबीसे डरता है। जिस देशमें स्वेच्छापूर्वक धारणकी हुई ग़रीबीकी प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी, आज अुसी देशमें हरेक शिक्षित युवक कायरकी तरह ग़रीबीसे भागता फिरता है। रूसमें अकाल फैला हुआ था। लोगोंका दुःख असह्य था। अुसे देखकर साधु टॉल्स्टॉय घर-बार छोड़कर भिखमंगा बन गया। बाह्य दृष्टिसे देखनेमें अुसका क्या लाभ हुआ? ग़रीबोंकी संख्यामें और भी अेक आदमी बढ़ा दिया, बस यही न? अर्थशास्त्री अिसका अुत्तर नहीं दे सकते, क्योंकि अुनके शास्त्रमें आत्माके लिये स्थान ही नहीं। पर टॉल्स्टॉयने भिखारी बनकर संसारकी आत्माको जागृत किया, संसारके अैशोआराममें डूबे हुअे हज़ारों मनुष्योंको फाकेकशीका और अुसके मूलभूत कारण अन्यायका प्रत्यक्ष दर्शन करा दिया।

शिक्षित लोग कहते हैं—'आपकी बात सच है, किन्तु हमारे बाल-बच्चोंका क्या होगा? जिस स्थितिमें रहनेकी आदत अुनको पड़ गअी है, अुसमें तो अुन्हें रखना ही होगा? क्या यह अुचित है कि हमारे विचारोंके कारण वे कष्ट सहें?' मैं कहूँगा, 'जरूर। अिसमें कुछ भी अनुचित न होगा। यदि आपकी दृष्टिसे केवल आपकी स्त्री और बाल-बच्चे ही सत्य हों, और भूखों मरनेवाले ये करोड़ों भाअी केवल भ्रम—माया—हों, तब तो जुदी बात है। पर आप यह क्यों नहीं खयाल करते, कि क्या यह अुचित है कि हमारी सफेद आदतोंके कारण हज़ारों ग़रीबोंको भूखों मरना पड़े?' ग़रीबीमें दिन काटने पड़ेंगे—अिस डरसे हममें कितनी पामरता आ गअी है! पद-पद पर हमारा जो तेजोवध हो रहा है अुसका कारण यह ग़रीबीका डर ही है। अन्यायको सहते हैं, अपमानका कड़वा घूँट पी जाते हैं, आँखें मूँदकर अन्याय करनेमें दूसरेके साथ सहयोग करते हैं, और रात-दिन आत्माका अपमान

करते हैं, अिसका कारण सिवाय अिस ग़रीबीके भयके और कुछ हुअी नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अितना स्वार्थत्याग तो कोअी विरला महात्मा ही कर सकता है। सामान्य लोगोंके लिये यह आदर्श नहीं है। बाल-बच्चोंका विचार छोड़ देने से कैसे चलेगा ?'

युद्धमें जो हज़ारों और लाखों सैनिक देशके लिये लड़ने जाते हैं, वे सभी महात्मा नहीं होते। अुनके भी बाल-बच्चे होते हैं। दस या पन्द्रह रुपये पानेवाला मनुष्य अपने बाल-बच्चोंके लिये क्या बचत कर सकता है ? स्त्रियों और लड़के-लड़कियोंको आश्रित दशामें रहनेकी हमने आदत डाल रक्खी है। अिसीसे हमें अज्ञात भविष्यमें गोता लगानेमें भय होता है। प्रतिदिन परिश्रम करके रोटियां पैदा करना और भविष्यकी ज़रा भी चिन्ता न करना, अिसमें जो वीर-रस है अुसकी मधुरता अनुभवके बिना समझमें नहीं आ सकती। कुशलता, सुरक्षितता तो जीवनकी विध्वंसक है। भविष्यकी सन्दिग्धता—नित्य-नूतन युद्ध, यही तो जीवनका सार है अिसका स्वाद जिन्हें नहीं मिला, अुन्हें तो अभागे ही समझिये। जिसका भविष्य सुरक्षित है, अुसमें धार्मिकताका होना बहुत कठिन है। जो सुरक्षितताको चाहता है, वह वास्तवमें नास्तिक ही है। जैसे बालक माता-पिता पर विश्वास रखकर निश्चिंत रहता है, अुसी तरह वीर पुरुषको मांगल्यपर विश्वास रखना चाहिये। जहाँ सुरक्षितता है वहाँ न पुरुषार्थ होता है न धार्मिकता, न कला होती है और न काव्य ही होता है।

जो मनुष्य स्वेच्छापूर्वक ग़रीबी धारण करता है, वह वीर बन जाता है। अन्यायी मनुष्यको वह कालके समान लगता है। पीड़ितोंको कृपानिधि जान पड़ता है। वह बड़ी-से-बड़ी सल्तनतका

सामना कर सकता है, और धर्मका रहस्य भी अुसीपर प्रकट होता है। ग़रीबी वीर मनुष्यकी खूराक है, ईश्वरका प्रसाद है और धर्मका आधार है। जब इस तरहके ग़रीब देश में बढ़ेंगे तभी देशकी ग़रीबी दूर होगी, फ़ाकेकशी मिटेगी, लोगोंमें हिम्मत आयगी और आज जो बात असम्भव मालूम होती है वही आगे सम्भव और सुलभ हो जायगी।

१०

ग़रीबोंकी दुनिया

मानव-जातिके अितिहासके मानी हैं भिन्न-भिन्न मानव-जातियोंके सम्मुख भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर अुपस्थित हुअे अनेकों प्रश्नोंकी अुलझनों और अुनको सुलझानेके लिये किये हुअे मानव-प्रयासोंका वर्णन। अिस दृष्टिसे आज यूरपके अितिहासका अवलोकन हमारे लिये बहुत बोध-प्रद है। क्योंकि यूरपने पिछली शताब्दीमें अपने पुरुषार्थसे सारे संसारपर भला या बुरा असर डाला है।

अन्धकारके युगमेंसे अुबर जानेके बादके यूरपके इतिहासमें हम प्रायः भिन्न-भिन्न राजवंशोंके अभिमान, महत्त्वाकांक्षा और षड्यंत्र ही देखते हैं, मानो अितिहासमें सामान्य प्रजाका अस्तित्व ही नहीं था।

जैसे महाभारत में अठारह अक्षौहिणी सेनाके युद्धमें गिने जाने और कट जानेके सिवा और कोअी अर्थ ही नहीं, अथवा जिस तरह चित्रके पीछे अुसे धारण करनेके लिये ही पट होता है, ठीक वैसी ही दशा यूरपमें सर्वसाधारण जनताकी थी, यों कहा जाय तो अयथार्थ न होगा। रूस, प्रशिया और आस्ट्रिया अिन तीनों

राज्योंने यूरप की एक महान् प्रजाके प्रति घोर अन्याय करके प्रजाओंको ऐतिहासिक महत्त्व दिया। जिस दिन पोलैण्डके टुकड़े-टुकड़े किये गये, उसी दिन यूरपमें राष्ट्रीयताका जन्म हुआ। इटालियन देशभक्त जोसेफ मैजिनीने अपने तत्त्व-ज्ञानसे और कठोर तपश्चर्या से राष्ट्रोंको नाम, रूप और महत्त्व समर्पित किया और उसी दिनसे यूरपके युद्ध और सुलहनामे अर्थात् सन्धि-विग्रहादि राजपरिवारोंके बजाय राष्ट्रोंके नामसे होते हैं।

वर्तमान समय औद्योगिक प्रगतिका युग होनेसे राजसत्ता किसी-न-किसी तरह व्यापारियोंके हाथोंमें चली जाती है। ये व्यापारी अपने स्वार्थके लिये भोली-भाली प्रजाओंमें राष्ट्रीय अभिमान, द्वेष और ईर्षा सुलगाकर उन्हें लड़ाते हैं और भयंकर संहार कराके उसका आर्थिक लाभ तो स्वयं हज़म कर जाते हैं, किन्तु उसका भार तथा आपत्तियां सिर्फ उन ग़रीब प्रजाओंको उठानी पड़ती हैं।

जबतक यूरपके शासन-सूत्र राजवंशोंके हाथोंमें थे, तबतक बाहरी दुनियाके साथ उसका अधिक सम्बन्ध नहीं आया था, परन्तु जिस दिनसे औद्योगिक युगका आरम्भ हुआ, उसी दिनसे यूरपके झगड़े सारी दुनियाको बाधक होने लगे हैं।

जिस प्रकार अन्यान्य सभी खण्डोंकी प्रजा यूरपके इन झगड़ोंके कारण ऊब गई है, उसी प्रकार वहांका मजूर-दल भी इनके कारण उतना ही परेशान हो गया है। वह कहता है कि "यह मान लेना निरा भ्रम है कि आज यूरप में पन्द्रह या अठारह राष्ट्र हैं। यूरपमें तो केवल दो ही राष्ट्र हैं धनियोंका और दूसरा निर्धनोंका। धनवान राष्ट्र समर्थ और संगठित हैं, जबकि निर्धन राष्ट्र असहाय और छिन्न-भिन्न हैं। इसीलिये तो धनिक निर्धनोंको अपना दास बनाकर उनका खून चूस सकते हैं। यदि निर्धनोंका वर्ग सुसंगठित हो जाय, ऐक्य-पूर्वक

रहकर कोअी योजना बनाकर असको पूरा कर सके, तो अुसके पास मनुष्य-बल तो अितना है और जन-जीवन की एक-एक नस इस तरह सम्पूर्णताके साथ अुनके हाथोंमें है कि वह चाहे जिस क्षण अपनी मनमानी कर सकता है।" अिसी खयालसे वहां मजदूरशाही अथवा बोलशेविज्मका जन्म हुआ। यूरपमें अब धनी और निर्धनोंके बीच महान् विग्रह शुरू हो गया है। यह कहना कठिन है कि कब और किस तरह अिस विग्रहका अन्त होगा।

शंकराचार्यने जिस समय 'अर्थमनर्थं भावय नित्यं' कहा था अुस समय शायद अुनके दिलमें अपने वचनका इतना व्यापक और भीषण अर्थ नहीं आया होगा। जबतक लोग अिस तरह धन-के लिए लड़ते रहेंगे, तबतक इस मानवताको सुख और शान्ति कैसे नसीब हो सकती है? 'अद्वैत' की तरह इस विग्रहमें भी 'द्वितीयाद्वै भयं भवति।' जबतक ये दो रहेंगे, युद्ध बराबर जारी रहेगा। सर्वनाश किये बिना यह विग्रह शान्त नहीं होगा।

पर श्रद्धा कहती है, 'नहीं, सर्वनाशके लिये अिस मानवताकी सृष्टि नहीं हुअी है।' भगवान अीसाने कहा है कि यह दुनिया ग़रीबों के लिये है, पर ग़रीबोंसे मतलब अूपर बताये हुअे, निर्धनोंसे नहीं है। क्योंकि, वे तो दोनों—धनी और निर्धन भी—धनकी वासना से पूर्णतः व्याप्त हैं। अतः वे दोनों तो धनवान ही हुअे। जहां अेक धनके मदसे मत्त है, वहां दूसरा धन-लोभसे अन्धा हो रहा है। दोनों ही में धनकी विकृति है, अतः जिसमें धनकी विकृति है वह ग़रीब नहीं बल्कि धनवान ही कहा जायगा। पर यह दुनिया धनवानोंकी नहीं, ग़रीबोंकी है।

अिस दृष्टिसे देखा जाय तो समस्त यूरप धन परायण है। पूँजीपति भी परायण और बोलशेविक भी परायण। क्योंकि दोनों धनके लालची हैं, अुसके लिये पागल हो रहे हैं।

ये दोनों प्रकारके धनवान भले ही संसारमें मनमाने लड़ें;

क़ानूनके पंडित भले ही चाहे कितने ही प्रकारसे संपत्तिके विभाग करके देखलें, पर अिस तरह संसारमें कदापि शान्तिका साम्राज्य नहीं होगा।

यूरपमें थोड़ेसे लोगोंके हाथमें सारा धन है। निस्सन्देह यह स्थिति विषम है। परन्तु यदि निर्धन लोग भूखे भेड़ियेकी तरह हमेशा अुस सम्पत्तिको लूटनेकी ताकमें रहेंगे तब तो वह विषमता और भी भयंकर हो जायगी। पर यह बात निर्धनोंके ख़यालमें नहीं आती। अुनमें अितनी श्रद्धाका उदय होना ज़रूरी है कि धनिकोंको विना लूटे भी अुनकी और धनिकोंकी विषमता दूर हो सकती है।

अिसके लिये निर्धनोंको कुछ करना चाहिये। अगर वे लोभका त्याग करके सन्तोषको अपनावें, और अपनी आवश्यकताओंको घटाकर अत्यन्त स्वाभाविक ज़रूरतोंको स्वावलम्बन द्वारा पूरी करना सीख लें तो वे देखेंगे कि न तो धनवानोंके पास अधिक धन जा रहा है, और न वहां एकत्र ही हो रहा है। वड़े पैमाने-पर वस्तुओंको पैदा करना और अुन्हें देश-देशान्तरोंमें भेजना अथवा संक्षेपमें विराट् रूपसे श्रम विभाग करना ही इस विषमता का मूल कारण है। अिस विषमताको दूर करने ही के लिये स्वदेशी धर्मका अवतार हुआ है। स्वदेशीके पालनसे कोअी भी मनुष्य धनिक न हो सकेगा, और न अुससे किसी मनुष्यके निर्धन होने का ही डर है। यदि हम एक जगह अूँचा टीला वनाते हैं, तो दूसरी जगह अवश्य ही गड्ढा वन जाता है। जहां सधनताका अभाव है, वहीं निर्धनता का भी अभाव हो सकता है। सम्पत्ति और दारिद्र्य दोनों सनातन पड़ौसी हैं। दोनोंका नाश अेक साथ ही हो सकता है—वोलशेविज़्म द्वारा नहीं वल्कि स्वदेशी-धर्म द्वारा।

परमात्माकी कृपा होगी तो अबसे आगे के ज़मानेके लोगों-में दो वर्ग होंगे—अेक धन-परायण और दूसरा सन्तोष-परायण।

अेक होगा साम्राज्यवादी और दूसरा होगा स्वराज्यवादी। अेक होगा सत्तावादी और दूसरा होगा सत्यवादी। अेक आतंक जमाना चाहेगा, दूसरा दयाका शीतल स्रोत वहावेगा। अेक अैश्वर्य परायण होगा और दूसरा होगा स्वधर्म-परायण। अेक अहंकारवादी और दूसरा संतोषी।

११

प्रतिष्ठाकी अस्पृश्यता

हवा सर्वत्र चलती है, सभीको छूती है और संसारकी अेकरूपता सिद्ध करती है। स्वर्गके देवता और कब्रके मुर्दे हवा-के विना अपना काम चला सकते हैं। दोनों अस्पृश्य हैं। ईश्वर-की अिच्छा है कि पृथ्वी तो पृथ्वी ही वनी रहे। परन्तु कअी लोग अपने यकतरफा विचारके प्रवाहमें वहकर अिस भूलोकपर स्वर्ग और नरककी सृष्टि खड़ी करना चाहते हैं। मुरदा सड़ता है, मुरदेमें प्राण नहीं होता, मुरदा पृथ्वीके लिये भार-रूप है, इस लिये अुसे कोअी छूता भी नहीं, अितना ही नहीं वल्कि दफ़नाकर या आगसे जलाकर लोग अुसे नष्ट कर देते हैं। देवता हमें छूते नहीं। परन्तु वे अिस भूलोकपर विचरते भी तो नहीं। जव अुन्हें विचरना होता है, तव वे मानव-रूप धारण कर लेते हैं, वे मनुष्यों-के-से व्यवहार करते हैं, तभी वे मनुष्योंमें हिलते-मिलते हैं। जव वे (देवता) अैसा करनेसे अिन्कार करते हैं, तव अुन्हें पत्थर वनकर मन्दिरोंकी कैद भुगतनी पड़ती है।

हमारे समाज में अिसी तरहके दो अस्पृश्य-वर्ग देखनेमें आते हैं। अेक अन्त्यजोंका और दूसरा अग्रजों (ब्राह्मणों) का। जिस प्रकार ढेड़—मेहतर - अस्पृश्य हैं, अुसी प्रकार शंकराचार्य भी अस्पृश्य हैं। हम दोनोंकी श्रेणियोंमें वैठकर भोजन नहीं करते। हम दोनोंसे हाथ-भर दूर रहते हैं। दोनोंको वेदका अधिकार नहीं

और अिसलिये दोनोंको समाजमें स्थान भी नहीं है। समाजमें अुनकी स्थिति खतरनाक है। यदि अुन्हें समाजमें शामिल करना हो तो पहले अुनकी अिस अस्पृश्यताको दूर करना जरूरी है। यदि अन्त्यजोंको समाजमें अस्पृश्यही बनाये रक्खेंगेतो सामाजिक दुर्गन्ध बढ़ेगी। अुसे दूर करनेके दो ही अुपाय हैं। या तो हिन्दू-समाजसे अुनको निकाल दिया जाय, या अुन्हें स्पृश्य मान लिया जाय। ब्राह्मण-संस्कृतिके प्रतिनिधि शंकराचार्यको भी चाहिये कि वह मनुष्यकी तरह समाजमें विचरें, समाजकी स्थितिपर विचार करें और धर्मोपदेश द्वारा समाजकी सेवा करें। यदि वे अैसा न करते हों, तो अुन्हें चाहिये कि वे लोगोंकी सेवा—पूजामात्र ही स्वीकार करनेवाली मूक मूर्त्ति बन जायं। सुनते हैं कि नैपालमें राजाको अितना महत्त्व दिया गया है कि कोअी भी व्यावहारिक कार्य राजाके योग्य नहीं समझा जाता। प्रजा-पालन, शत्रु-दमन, मन्त्री तथा राज-कर्मचारियों पर देख-रेख, बनाना, किसीको दण्ड देना, या क्षमा प्रदान करना अित्यादि कामोंमेंसे अेकभी काम यदि राजा स्वयं कर डालेतो अुसकी प्रतिष्ठाकी महान् हानि होती है। काम-काज प्रधान मंत्री करता है, राजा केवल 'होताहै'। यह तो प्रजाही जाने कि अैसे अस्पृश्य राजाका अुसे क्या अुपयोग होता होगा। नैपालके राजाका सम्मान चाहे कितना ही हो, समाज के हिसाबसे तो वह अेक अहेतुक निरुपयोगी प्राणी है—क्योंकि वह अस्पृश्य है। वेद-विद्याको भी हमने अिसी तरह बना रक्खा है। वेद अितने पवित्र हैं कि अुनका अर्थ तक नहीं किया जा सकता! संस्कृत-भाषाकी भी यही दशा हुअी है। संस्कृत तो ठहरी देवताओंकी वाणी, मनुष्य अुसका व्यवहार कैसे कर सकते हैं? फलतः अुसे जड़, निर्जीव, वीतप्राण ही हो जाना पड़ा। अिस प्रतिष्ठाकी अस्पृश्यतासे देववाणीको और भूदेवोंके समुदायको कौन अुबारेगा? जब शरीरके पैर और सिर भी समाज-

सेवाके लिये अयोग्य हो जायं, तब मनुष्यको पेटके बल चलना पड़े तो क्या आश्चर्य ?[1]

समाजको पंगु न बनाना हो तो शंकराचार्योंको और नैपाल-नरेश जैसे राजाओंको अपनी अस्पृश्यताको त्याग कर समाजमें सम्मिलित होना चाहिये और अन्त्यजोंकी अस्पृश्यताको दूर कर अुन्हें भी शामिल कर लेना चाहिये। अैसा करनेसे ही धार्मिक अन्धकार नष्ट होगा और हिन्दू-धर्मके सिरका काला धब्बा मिटेगा। केवल दिन-दिहाड़े मशालें जलाकर चलनेसे क्या होना-जाना है ?

१२

अन्त्यज-सेवा

जिसमें समभाव न हो वह सेवा नहीं कर सकता। सम-भावके मानी दया नहीं, परोपकार करनेकी वृत्ति नहीं, बुजुर्गी या शिष्टता नहीं समभावका अर्थ है प्रेमकी समानता, समभावका अर्थ है आदर; समभावका अर्थ है जाननेकी अिच्छा; सम-भावका अर्थ है भावना और आदर्शकी समानता।

अन्त्यजोंकी या अन्य किसी भी जातिकी सेवा तो समभाव ही से होनी चाहिये। अहङ्कारी मनुष्य तिरस्कारसे भी सेवा कर सकता है, अज्ञानी मनुष्य अज्ञानतासे भी सेवा कर सकता है; परन्तु वह सच्ची सेवा नहीं। अेक कहानी है कि अेक स्त्रीने देखा कि अुसके सोये हुअे पतिके गालपर अेक मक्खी बैठी है; अुसने सेवा-भावसे अुस मक्खीको अितने जोरसे अेक चांटा लगाया कि पतिके गालसे खून निकलने लगा।

[1] पेटके बल चलना—मशहूर जलियांवाले बागके हत्या-कांडकी ओर संकेत है। —संपादक

हमारा गृह-जीवन, हमारा धर्म, हमारा साहित्य अिन सभीके विषयमें अपने दिलमें असीम तिरस्कार धारण करते हुअे और अुसे प्रकट करते हुअे भी कितने ही गोरे हमारी सेवा करते हैं। हम सभी मानते हैं और हमें अनुभव भी है कि अुनकी यह सेवा हमें कितनी प्यारी और हितकारिणी है। जो लोग परदेशसे आकर अपने बड़प्पनका सिक्का जमाना चाहते हैं अुनकी सेवासे हमें अैहिक या बौद्धिक लाभ भले ही होता हो, किन्तु अुससे हमारी आत्माका-हनन ही होता है। जो हममें मिल कर रहते हैं, हमें समझनेकी कोशिश करते हैं, हमारे ढङ्गसे काम करते हैं, वे ही हमारे गुण-दोषको समझ सकते हैं। हमारे गुणोंसे वे प्रसन्न होते हैं और अुन्हें विकसित करनेके लिये सहायता करते हैं। हमारे दोषोंसे वे लज्जित होते हैं और अुन्हें दूर करनेके हमारे प्रयत्नोंमें प्रेम और समभावसे सम्मिलित होते हैं। वे हमारे सेवक बने रहना चाहते हैं, अुनको बड़प्पन देनेपर भी वे अुसे ग्रहण नहीं करते।

जो अभिमानी होते हैं, अज्ञानी और लापर्वाह होते हैं, वे अच्छे-बुरेकी अपनी कसौटी साथ-साथ लिये घूमते हैं। जो अुन्हें अच्छा न लगता हो अुसे हमें छोड़ देना चाहिये फिर चाहे वह हमें कितना ही प्रिय और अनुकूल हो। अुसी प्रकार जिसे वे प्रिय समझें वह हमें कितना ही अनुचित लगता हो तो भी हमें अुसे धारण करना चाहिये। चिकनी मिट्टीके घोड़ेको तोड़कर हमें यदि अुसका साँप या गणपति बनाना है तो पुरानी आकृतिको तोड़कर हमें अुसे बिलकुल नया आकार देना पड़ता है। अुसी प्रकार वे हमारे समाजको भी समझते हैं। किन्तु समाज कुछ चिकनी मिट्टी तो है नहीं, और यदि हो भी तो विदेशियोंके लिये कदापि नहीं।

जो नियम हमारे लिये हैं वे ही अन्त्यजोंके लिये भी हैं।

आराम-कुरसी पर बैठकर हम निश्चित करते हैं कि, अन्त्यजोंके लड़कोंको अिस तरहकी पोशाक पहननी चाहिये, अुन्हें अितने विषय जानने चाहिये. अितने अुद्योग सीखने चाहिये; और अमुक-अमुक विचारोंको छोड़ देना चाहिये, अथवा धारण कर लेना चाहिये । अन्त्यजोंके लड़कोंको लेकर चिकनी मिट्टीके समान अुन्हें अपनी कल्पनाके अनुसार हम बना लेना चाहते हैं।

'अन्त्यजोंका और हमारा धर्म अेक ही है। हम दोनों अेक ही समाजके अंग हैं। हम अनादि कालसे अन्त्यजोंके प्रत्यक्ष गुरु नहीं तो अुनके अगुआ तो जरूर ही हैं। वे हमारे आश्रित, हम अुनके अभिभावक, यह सम्बन्ध चला आता है, और अिसी लिये अन्त्यजोंके अुद्धारका मार्ग निश्चित करनेका अधिकार और योग्यता भी हम रखते हैं।' अिस तरहका यदि कोअी दावा करे तो वह अयोग्य होगा, सो नहीं। परन्तु बहुतेरे अधीर बनकर अन्त्यजोंका अुद्धार करते-करते अपने समाजसे भी अलग हो गये हैं। हमने अपने धर्म-विचार निश्चित नहीं किये । हमने अभी यह भी निर्णय नहीं कर लिया कि सामाजिक जीवनमें कौन-सी व्यवस्था अच्छी है। जितना पुराना है अुसे सरलतासे तोड़नेमें लगे हैं, परन्तु हमने अभीतक अिसका विचार नहीं किया कि अुसकी जगहपर नया क्या अुपस्थित किया जाय, अथवा क्या अुपस्थित किया जा सकता है । और अन्त्यजोंके सुख-दुःख में अुनके सहयोगी बनकर अुनकी जीवन-यात्राको आसान बनानेकी बात तो हमें अभीतक सूझी भी न थी। फिर हम किस तरह अुनके भाग्य-विधाता बनेंगे ?

अिसका यह अर्थ नहीं कि, हम अुनकी सेवा नहीं कर सकते पर सेवा करनेके पहले हमें अुनके हृदय और अुनकी स्थितिको अच्छी तरह जान लेना जरूरी है। अुनकी शक्ति और अशक्तिकी परीक्षा करनी चाहिये। अुनकी धारणाओंके आधारभूत कारणोंको

खोजना चाहिये। अुनकी धारणाओं और रिवाजोंको जड़में महत्त्व-पूर्ण कारण होते हैं। हमें अिसका पता लगाना चाहिये कि वे कारण कौनसे हैं। जिन्होंने अन्त्यजोंमें थोड़ा-बहुत काम किया है, अुनका अनुभव प्राप्त करके अत्यन्त नम्रता और सम-भावसे अन्त्यजोंकी सेवाको श्रीगणेश करना चाहिये।

अन्त्यजोंकी अस्पृश्यता दूर करते ही अुनके कितने ही दोष तो अपने-आप ही दूर हो जायंगे। स्पृश्य समाजमें मेल-मिलाप बढ़ते ही अनायास अुन्हें कितने ही संस्कार मिलने लग जावेंगे। अुनका अुत्तरदायित्व बढ़ जायेगा, जिसको पूरा करनेके लिये हमें अुन्हें समभावपूर्वक सहायता करनी चाहिये।

और खासकर यह ध्यानमें रखना चाहिये कि, जहाँ-जहाँ अन्त्यज स्पृश्य समाजमें सम्मिलित हों वहाँ-वहाँ अन्त्यजोंके स्वभावमें अितनी नम्रता और मधुरता तो जरूर बनी रहे कि सभी लोग अुनका प्रेमपूर्वक स्वागत करने लग जायं। अन्त्यज-सेवकोंको अिसकी खूब चिंता रखनी चाहिये। अन्त्यजोंकी जातिके प्रति जो रूढ़ तिरस्कार है अुसके स्थानपर यदि पढ़े-लिखे अन्त्यजोंकी अुद्धतताके कारण समाजमें नया तिरस्कार अुत्पन्न हो जायगा तो अुसे दूर करना कठिन होगा। कअी लोगोंके मन-में अस्पृश्य भावनाका अंश मात्र भी नहीं होता; गन्दे, शराब पीनेवाले मेहतरोंके साथ भी वे बन्धु-प्रेमसे बातें कर सकते हैं किन्तु अैसे लोगोंके लिये भी कअी बार कितने ही पढ़े-लिखे और अुद्धत अन्त्यजोंकी भाषा और अुनकी अपेक्षायें आशायें बरदाश्त करना कठिन हो जाता है। यह दोष है अुस शिक्षाका जो हमने अुन्हें दी है। हम अन्त्यजोंको स्पृश्य समाजमें स्थान देना चाहते हैं, वह अुनका हक़ भी है। छूत पाप है, अन्याय भी है; परन्तु अुस अन्यायको दूर करनेके लिये स्पृश्य समाजका अपमान कर अुनके साथ तुच्छताका बर्ताव करके अन्त्यज अपना कल्याण

नहीं कर सकते। अभीतक जिस नम्रताको भय या अज्ञानके कारण किया था, अुसीको अब अुन्हें ज्ञानपूर्वक और स्वाभिमान पूर्वक धारण करना चाहिये। वहम और भय का त्याग करना चाहिये, नम्रताका नहीं। जिस प्रकार वकील-मुअक्कलका पक्ष लेकर अुसे लड़ाते हैं; अुसी प्रकार यदि हम अन्त्यजोंका पक्ष लेकर अुन्हें स्पृश्यवर्गके साथ लड़ा देंगे तो अुससे कुछ दिन तक हम अन्त्यजोंमें भले ही लोक-प्रिय हो जायँगे, और स्पृश्य समाज भी हमसे डरने लग जायगा, किन्तु यह समाज-सेवकका पवित्र कार्य कदापि न कहा जायगा।

मनुष्यके लिये यदि अत्यन्त पवित्र और अत्यन्त सूक्ष्म कोअी वस्तु हो तो वह है मनुष्य-समाज। अुस समाजकी व्यवस्थामें हम जब कभी हाथ डालेंगे तब हमें वह अत्यन्त श्रद्धा, आदर-भक्ति और नम्रतापूर्वक करना चाहिये। नहीं तो समाज-द्रोहका पाप हमारे सिरपर आ बैठेगा। समाज-द्रोह प्रत्यक्ष अीश्वरका ही द्रोह है। यदि अिसमें भेद भी हो तो अीश्वरकी दृष्टिसे प्रभु-द्रोहकी अपेक्षा समाज-द्रोह ही अधिक खराब है। प्रभु-द्रोहपर क्षमा हो सकती है—सदा होती है। परन्तु समाज-द्रोह—बन्धु-द्रोहका प्रायश्चित्त जमानों तक—शताब्दियों तक करना पड़ता है।

१३

मजदूरोंका धर्म

कहा जा सकता है कि अभीतक हिन्दुस्तानमें अधिकांश मजदूरोंका वर्ग ही नहीं था। देशका बड़ा हिस्सा किसानों ही का था। आज भी किसानोंका प्रश्न ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार यूरोप में मजदूरोंकी समस्या प्रधान है अुसी प्रकार हमारे यहाँ किसानोंकी समस्या है। यदि किसी दलपर

सबसे अधिक सामाजिक दबाव है तो वह किसानों ही पर। गुजरातके किसानोंकी स्थितिसे बङ्गाल, महाराष्ट्र या संयुक्तप्रान्तके किसानोंकी स्थिति ज्यादा खराब मालूम होती है। आज मिलोंके कारण जो मजदूर वर्ग अुत्पन्न हुआ है वह अधिकांशमें किसानोंके वर्गमेंसे ही अुत्पन्न हुआ है। जब किसानोंको खेतीसे सफलता नहीं मिलती और अुसको देहातकी दरिद्र स्थिति असह्य हो जाती है तभी वह मजदूर बन जाता है। अर्थात् अेक तरहसे मजदूर-वर्ग खेतीकी निष्फलताकी निशानी है।

× × ×

मनुष्यकी मुख्य आवश्यकताअें दो हैं—अन्न और वस्त्र। अिसमें यह पुराना रिवाज था कि किसान अन्न अुत्पन्न करे और हरअेक मनुष्य अुसे पकाकर खाअे तथा हरअेक मनुष्य अपने-अपने घरमें सूत काते और जुलाहा अुसे बुनदे। सूत कातना और अन्न राँधना, यह हरअेक कुटुम्बका नित्य कर्म था। खेती और वस्त्र-व्यवसाय ये देशके दो सबसे बड़े अुद्योग थे। अुनके अलावा जो कुछ भी समाजका काम होता, अुसे अन्य कारीगर करते थे। मजदूरोंका काम ही न पड़ता था। हरअेक कुटुम्ब वह सब काम अपने हाथसे कर लेता था जो अुससे बन सकता था। अुससे भी अधिक काम आ पड़ता तो अपने पड़ौसीकी सहायता ले लिया करता था। अब भी हमारे समाजमें विवाह आदि अवसरोंपर दूसरेके यहां अेक ही जातिके पुरुष और स्त्रियाँ अिकट्ठी होती हैं और लड्डू या पापड़ बना लेती हैं। अेक ओर काम होता जाता है, दूसरी ओर विनोद-वार्तालाप भी होता रहता है, या गीत गाये जाते हैं। अिस तरह हमारी व्यवस्थामें परिश्रम भी अेक प्रकारका उत्सव बन जाता है।

× × ×

किसानको कुदरतके साथ हिलने-मिलनेका आनन्द मिलता

ही है। हल या पटहा चलाते समय किसान लोग आनन्दसे ललकारें लगा-लगाकर गीत गाते हैं। जुलाहा भी ढोटेकी तालपर अपने कण्ठकी तानें छेड़ता रहता है। कारीगरोंको कलाकी अुत्तम वस्तु तैयार करने में निर्दोष आनन्द मिलता है। अितना ही नहीं, वरन् खेतमें लुननेके समय, या घरमें छत या पलस्तर करते समय, टिपाई करते हुए भी मजदूर लोग संगीतका आनन्द लेते हैं। आज मजदूर-वर्गको मिलमें जिस तरहका काम करना पड़ता है वैसा आत्मघातक काम पहलेके मजदूरोंको कभी न करना पड़ता था। जिसको खुद परिश्रममें आनन्द नहीं मिलता अुसे आनन्द-प्राप्तिके बाहरी साधन खोजने पड़ते हैं और अैसी मजदूरी करनेवालोंका समाज यदि संस्कारी न हो तो वह स्वभावतः चाहे जहाँसे और चाहे जैसा आनन्द प्राप्त करनेको ललचेगा।

× × ×

आमतौरपर मजदूरी या शारीरिक परिश्रम पवित्र-से-पवित्र अुद्योग है। आरोग्य, दीर्घायुष्य और स्वतन्त्रता ये मजदूरीके आशीर्वाद हैं। मजदूरका जीवन दूसरे सभी अुद्योगोंकी तुलनामें अधिक निष्पाप होता है। यदि मजदूर सन्तोषी हो तो वह आसानीसे अस्तेय और अपरिग्रह व्रतका पालन कर सकता है और अुसीमें अहिंसा भी वर्तमान है।

मजदूरका पेशा जितना पवित्र है, अुतना ही सम्मानपूर्ण भी है। हां, हरअेक मजदूरको अिस बातका विचार जरूर करना चाहिये कि, वह किस कारण-वश और किन शर्तोंपर मजदूरी कर रहा है। मजदूर जो काम करता है या जिस वस्तुको बना रहा है वह समाजके लिये आवश्यक और धर्मको स्वीकार होनी चाहिये। मजदूरको मजदूरी करते हुअे अपनी स्वतन्त्रताको खो न बैठना चाहिये।

× × ×

फीजी अथवा दक्षिण अफ्रीकाके मजदूरोंको गिरमिटिया कहते हैं। ये अपने सेठ, या अपने कामका चुनाव स्वयं नहीं कर सकते। वे शर्तों से बंधे हुअे होते हैं। अिसीलिये उन्हें शर्त्तबन्द कहते हैं। कुली भी अपमान-जनक नाम है। दैनिक मजदूरी लेकर कार्य करनेवालेको मजदूर कहते हैं। बम्बअीमें मजदूरोंका नाम है काम-दार। यह शब्द मजदूरोंमें जागे हुअे आत्म-सम्मानका सूचक है। अमेरिकामें मजदूरोंको 'हेल्पर्स्' या मददगार (सहायक) कहते हैं। जो मनुष्य मजदूर रखता है, वह परावलंबी है, पंगु है और मजदूर अपने कामका पारिश्रमिक लेते हुअे भी समाज-सेवा करता है यह भाव अिस नाममें समाविष्ट है। मराठीमें मजदूरोंके लिये पुराना शब्द 'गड़ी' है। गड़ी अर्थात् दोस्त, भिड़ या साथी। परिश्रम-में सब समान हैं, परिश्रममें भ्रातृ-भाव वर्तमान है, और जो हमारा काम करता है वह हमारे ही वर्गका, हमारी बराबरीका है। यह सभी अर्थ-छाया 'गड़ी' शब्दमें एकदम आ जाती है।

दूसरे अुद्योगवाले मनुष्य जैसे समाजहितका विचार करते हैं और अपना कर्त्तव्य समझकर बहुतेरे सार्वजनिक कर्तव्योंका पालन करते हैं, अुसी तरह मजदूरोंको भी करना चाहिये। जिस मनुष्यको परिश्रम करनेका अभ्यास है, वह सच पूछा जाय तो समाजका राजा है। वह किसीपर निर्भर नहीं, बल्कि दूसरे लोग ही अुसपर निर्भर रहते हैं। हर एक मजदूर इस बातको जानता है कि पैसेवाले लोग अुसपर अवलम्बित रहते हैं। वह इस बात-को जानता है; अिसीसे वह कई बार दूसरेको असुविधामें देखकर अधिक मजदूरी पानेका प्रयत्न करता है। यदि मजदूर लोग अपने हितको बराबर समझ लें तो वे अधिकाधिक मजदूरी प्राप्त करने हीमें अपनी शक्ति का व्यय न करके अपनी प्रतिष्ठा और अपनी स्वाधीनताको बढ़ानेका प्रयत्न करेंगे। अेक मामूली क्लर्ककी अपेक्षा साधारण मजदूर अधिक कमाता है, अधिक उपयुक्त

होता है और असकी तुलनामें अधिक स्वतन्त्र भी होता है। परन्तु फिर भी क्लर्क अपनी सामाजिक प्रतिष्ठाकी रक्षा कर सकता है, किन्तु मजदूरसे अभी यह नहीं होता।

सच देखा जाय तो मजदूर मालिकका आश्रित नहीं, बल्कि मालिक ही मजदूरोंका आश्रित है। मजदूरोंकी पूँजी उनके शरीरमें है और वे असे अपने साथमें लेकर घूम सकते हैं। अन्हें अिसका बोझ नहीं लगता। मालिक तो पूँजीके साथ बँधा होता है और अिसीसे वह संगठित मजदूरोंकेसम्मुख आश्रितके समान ही होता है।

× × ×

मजदूरोंका अुद्धार तो तभी होगा जब वे अिस बातको जानने लग जावेंगे कि हम समाजकी किस तरह विशेष सेवा करते हैं—समाज-व्यवस्था में हमारा स्थान कहाँ है, तथा समाजके प्रति हमारा कर्तव्य क्या है। पर अिस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये मजदूरोंको शिक्षाकी आवश्यकता है। अिस बातको मजदूर शिक्षासे ही समझेंगे कि देशकी और संसारकी स्थिति कैसी है और अुसमें मजदूर अपनी अिच्छाके अनुसार चाहे जो काम किस तरह कर सकते हैं। मजदूर-वर्ग समाजको आबाद भी कर सकता है और बरबाद भी।

१४

श्रमजीवी वनाम बुद्धिजीवी

अुदर-निर्वाह अथवा समाज-सेवाके जो अनेक पेशे हैं अुनके सामान्यतः दो भाग किये जा सकते हैं। अेक श्रमजीवी और दूसरा बुद्धिजीवी। किसान, जुलाहा, राज, बढ़अी, लुहार, नाअी, धोबी, कुम्हार, गुमाश्ता ये तो श्रमजीवी हैं (और क्लर्क, अध्यापक, सरकारी अधिकारी, न्यायाधीश, वकील ये सब बुद्धिजीवी

हैं।) पुरानी पूँजीके सूदपर अपना जीवन-निर्वाह करनेवाला अेक तीसरा वर्ग भी होता है जो विना किसी सेवाके समाजमें रहना चाहता है। पर न तो अुसे पेशाकार न समाज-सेवक कहा जा सकता है। पेशाकारोंके तो केवल दो ही वर्ग हैं—श्रम-जीवी और बुद्धिजीवी। कितने ही देशोंमें अिन दो पेशोंमें से श्रमजीवी पेशेकी अपेक्षा बुद्धिजीवी पेशेको अधिक अूँचा माननेकी बुरी प्रथा हो गअी है।

हमारे देशमें तो श्रमजीवी पेशेको बिलकुल नीचा मानने की प्रथा बहुत पुराने समयसे ही चली आअी है जिसके कारण हमारे समाजको असीम हानि हुअी है।

आज भी मनुष्य शिक्षा अिसी अुद्देश्यसे प्राप्त करता है कि वह परिश्रम करनेकी सजासे बच जाय। अेक दिन मैं सिंधमें अपना स्नानगृहकी सफाअी कर रहा था। यह देख अेक प्रख्यात धर्मोपदेशक मुझसे पूछने लगे, "अजी अैसा काम करना था तो अितनी अङ्गरेजी क्यों पढ़ी? चार अिल्म पढ़े हैं, फिर भी अपने हाथसे काम कर रहे हैं। मुझे बड़ी शर्म मालूम होती है।" भारतवर्षकी अतीत सभ्यताके दिनोंमें हम लोगोंमें अिस तरहके विचार न थे। भारतवर्षके विद्यार्थी अपने गुरुके मकानपर पशुके जैसा कठिन काम करते। पर कभी वे अूबते न थे और न शमाते थे। अुपनिषद्के आचार्य अपने गुरुके घरपर गौअोंको चराते थे। स्वयं श्रीकृष्ण गुरु-गृहपर रोज जंगलसे लकड़ीके बोझ लाते थे। विद्यापीठके वृद्ध पण्डित लोग अवकाश मिलने-पर पत्तलें बनाते थे। कोअी यह नहीं सोचता था कि शारीरिक परिश्रम करनेसे बुद्धिका कोअी अुपयोग नहीं होता या प्रतिष्ठाको हानि पहुँचती है। शारीरिक परिश्रम अेक आवश्यक यज्ञ समझा जाता। अिसलिये लोग सौ-सौ वर्ष तक जीते रहते थे। राजा और सरदार लोग भी कम-से-कम अपने शरीरको सर्व-कार्य-क्षम

बनाये रखनेके लिये सभी प्रकारके परिश्रम करनेकी आदत बनाये रखते। धर्म-शास्त्रकारोंकी आज्ञा थी कि बंजर ज़मीनकी झाड़ी वगैरा कट जानेपर अुसपर पहला हल तो राजाको ही चलाना चाहिये। क्योंकि तब राज्यका आद्य किसान राजा ही समझा जाता था।

अिस प्रथाके कारण श्रमजीवी और बुद्धिजीवी वर्गोंके बीच पूरा-पूरा सहयोग रहता था। बुद्धिमान् और धनवान् लोग भी परिश्रमी कारीगर वर्गकी क़दर करते और दोनों वर्गोंके बीच संस्कारोंका आदान-प्रदान होता रहता था। अिसी ज़मानेमें यह कहावत प्रचलित थी कि "किसानके शरीरपर लगी हुअी मिट्टी-को झाड़ दो और अुसे राजवस्त्र पहना दो कि वह राजा बन जाता है।" राजोचित संस्कारोंकी न्यूनता अुसमें कभी रहती ही नहीं थी। अिसलिये अुस ज़मानेमें प्रत्येक जातिमें शूर सरदार पैदा होते थे। देशकी रक्षा कैसे होगी, यह कायर-चिंता किसीके चित्तको स्पर्शतक नहीं कर सकती थी। और जाति-जातिके बीच शायद ही कभी वैमनस्य होता था।

आज तो अंग्रेजी राज्यके कारण अथवा अिससे पहले ही से पढ़े-लिखे और अपढ़ोंका भेद तो चला ही आया है। पर श्रमजीवी और बुद्धिजीवोंके बीच भी बहुत कम आकर्षण और सम्बन्ध देखा जाता है। बुद्धिजीवी मनुष्योंको शारीरिक परिश्रम नहीं करना पड़ता हो अथवा श्रमजीवियोंको बुद्धिका प्रयोग नहीं करना पड़ता हो सो बात भी नहीं। फिर भी अुपर्युक्त भेद तो स्पष्ट ही है। आधुनिक सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक जागृतिके ज़मानेमें अेक वर्गके प्रयास दूसरे वर्गतक पहुँच ही नहीं पाते। श्रमजीवी लोगों के सुख-दुःखोंके विषयमें बुद्धिजीवी लापर्वाह तो होते ही हैं पर अुससे भी विशेष बात तो यह है कि वे अुससे अनभिज्ञ भी रहते हैं। बुद्धिजीवी लोग अपने आन्दो-

लनोंका रहस्य श्रमजीवी लोगोंको अुनकी अपनी भाषामें नहीं समझा सकते। अिसलिये आज स्वराज्यके विषयमें भारतवर्षमें अितनी तीव्र अुत्कण्ठा होनेपर भी हम अपनी शक्तियोंको अेकत्र नहीं कर सकते।

अिसका तो अेक ही अुपाय है। श्रमजीवी लोगोंमें शिक्षाका प्रचार। और बुद्धिजीवी लोगोंमें परिश्रमकी प्रतिष्ठा। श्रमजीवी लोगोंमें शिक्षाका प्रचार करना चाहे कितना ही कठिन हो वे तो अुसके लिये तैयार ही हैं। यदि बुद्धिजीवी लोग श्रम करनेको तैयार हो जायं तो अुनके लिये भी कोअी काम असम्भव नहीं रहेगा। पर अुनको यह बात बड़ी अटपटी मालूम होती है। अिन दो वर्गोंके बीच जबतक सहयोग नहीं होगा; तबतक स्वराज्यके लिये कहिये अथवा अन्य किसी कार्यके लिये कहिये, राष्ट्रकी शक्तिको अेकत्र करना दुष्कर है। शारीरिक परिश्रमके प्रति तिरस्कार होना बुद्धिजीवी लोगोंके लिये अेक सार्वत्रिक रोग-सा हो गया है। यह अनुमान नहीं, अनुभवकी वाणी है।

स्वराज्यकी योजनाअें तो हम चाहें जितनी बना सकते हैं। भला अुर्वर मस्तिष्कमें योजनाओंकी भी कमी हो सकती है? पर अुनपर अमल कौन करेगा? स्वराज्य-स्थापनाके लिये आवश्यक मेहनत हम प्रस्ताव पास करके सरकार से तो नहीं करा सकते। जिसे स्वराज्यकी आवश्यकता हो अुसीको परिश्रमकी दीक्षा लेनी चाहिये, श्रमजीवी लोगोंका-सा जीवन व्यतीत कर अुनके साथ हमें समभाव पैदा करना चाहिअे। तभी अिन दो वर्गोंके बीचका अंतर कमहोगा, और स्वराज्य-कार्यकी कुछ बुनियाद पड़ेगी। जिस तरह दूसरेसे कसरत कराकर मैं बलिष्ट नहीं हो सकता अुसी प्रकार अपने अेवजी या प्रतिनिधि-द्वारा श्रम-दीक्षा नहीं ली जा सकती। यदि कोअी कहता है कि मुझे स्वराज्य चाहिये तो अुसका कोअी अर्थ ही नहीं होता जबतक वह स्वयं

परिश्रम करने नहीं लग जाता। जिसने स्वराज्यके लिये श्रम-दीक्षा ले ली है वही स्वराज्यका भूखा कहा जा सकता है। प्रजाकी शक्तिका विकास और संगठन करनेका यही अेकमात्र अुपाय है।

यह बात समझमें आने पर कांग्रेसका सभ्य होनेके लिये कातना आवश्यक है, अिस नियमका अर्थ समझनेमें किसीको देर नहीं लगेगी। हम गत ३५-४० वर्षसे कहते आये हैं कि स्वदेशीमें ही स्वराज्य है। अुस स्वदेशीको यदि हम अितने वर्षोंमें भी सफल नहीं कर बतावेंगे तो कहा जायगा कि हमने अपने देशकी बुद्धि और कर्तृत्व-शक्ति दोनोंको अपमानित किया है। स्वराज्य-स्थापना-में जो विलम्ब हो रहा है अुसको दूर करनेका यही अेकमात्र मार्ग है कि कांग्रेसको सर्व-संग्राहक बनानेके लिये सभी पक्ष स्वेच्छा-पूर्वक अिस वस्तुका सम्पूर्ण स्वीकार करें।

१५

धर्म–संस्करण

कुछ लोग कहते हैं कि हमारा धर्म सबसे पुराना है अिसलिये वही सबसे अच्छा है। दूसरे कहते हैं कि हमारा धर्म सबसे आखिरी है अतः वह सबसे अधिक ताजा है। कोअी कहते हैं कि अमुक पुस्तक आद्य धर्म-ग्रन्थ है, अिसलिये अुसमें सब-कुछ आ गया है। तो दूसरे कहते हैं कि फलाँ किताब परमात्माका संसारको दिया हुआ सबसे आखिरी धर्म-ग्रन्थ है, अिसलिये अुसका अुल्लङ्घन नहीं कर सकते।

सनातन-धर्मी दूसरी ही तरहसे विचार करते हैं। सृष्टिका आदि और अन्त हो सकता है। धर्म-ग्रन्थोंका भी आदि और अन्त हो सकता है। पर धर्म तो अनादि–अनन्त है। अिसलिये वह सनातन कहा जाता है। सनातनके मानी क्या हैं? जो अिस सृष्टिके प्रारंभके पहले था और जो अुसके अन्तके बाद भी

क़ायम रहेगा, वही सनातन है। अिस अर्थके अनुसार तो आत्मा और परमात्मा ही सनातन माने जा सकते हैं।

पर सनातनका और भी अेक अर्थ है। जो नित्यनूतन होता है वह स्वभावतः ही सनातन है। जो जीर्ण होता है वह तो मर जाता है। जो बदलता नहीं वह सड़ जाता है। जिसकी प्रगति नहीं है अुसकी अधोगति बनी बनाअी है। बँधी हवा बदबू पैदा करती है। जो पानी बहता नहीं है वह स्वच्छ नहीं रहता। पहाड़ के पत्थर बदलते नहीं अिसलिये वे धीरे-धीरे चूर्ण हो जाते हैं। घास पुनः अुगती है, वनकी वनस्पतियाँ प्रतिवर्ष मरती हैं और फिर दूसरे साल अुगती हैं। बादल खाली होते हैं और फिर भरते हैं। प्रकृति को नित्यनूतन होनेकी कला अवगत हो गअी है अिसलिये वह हमेशा नवयौवना दीखती है।

सनातन-धर्मके व्यवस्थापक अिस सिद्धान्तको जानते थे अिसीलिये युगधर्मके अनुसार अुन्होंने भिन्न-भिन्न धर्मोंकी रचना की है। वे काल-महात्म्यको जानते थे अिसीलिये वे कालपर विजय प्राप्त कर सके। धर्मके आध्यात्मिक सिद्धान्त अचल और अटल हैं। पर अुनका व्यवहार देश-कालके अनुसार बदलना पड़ता है। अिस बातको जानकर ही धर्मकारोंने हिन्दू-धर्मकी रचनामें 'परिवर्तन-तत्त्व' शामिल कर दिया। अिसी कारण यह धर्म सनातन पद प्राप्त कर सकता है। अनेक बार वह क्षीण-प्राण जरूर हुआ पर निष्प्राण कभी नहीं हुआ। मनुष्यकी जड़ताके कारण कअी बार अुसमें गन्दगी भी फैल गअी, पर बिना किसी विप्लवके वह फिर पुनरुज्जीवित हो अुठा।

सामाजिक व्यवस्था अथवा धार्मिक विधियोंके पालनमें कालानुकूल परिवर्तन होना आवश्यक है। पर जबसे हिन्दूसमाज-में अबुद्धिने अपना अड्डा जमाया है तबसे वह (हिन्दूसमाज) अैसे परिवर्तनोंको शंकित दृष्टिसे देखने लग गया है। अेक अैसी

भीति और नास्तिकता हमारे अन्दर घुस गअी है कि हम हर समय कहने लग जाते हैं कि, "क्या पूर्वजोंकी अपेक्षा हम अधिक होशियार हो गये ? पूर्वज तो त्रिकालका विचार कर सकते थे। अनकी रचनामें हम कहीं कोअी परिवर्तन कर बैठेंगे तो शायद हम संकटमें पड़ जायंगे।" सच पूछा जाय तो अिस तरह परिवर्तन-से डरना सनातन धर्मके स्वभावके ही विपरीत है। विचार-हीन अुच्छृंखल परिवर्तनकी तो हिमायत ही कौन करेगा ? पर अज्ञान के कारण डरकर निष्प्राण स्थिरताको खोजना पुरुषार्थ नहीं बल्कि मृत्यु ही है।

अपनेको छोड़कर दूसरेका ग्रहण करना अेक अलग बात है; और अपना तथा परकीय धर्म दोनोंको जाँचकर तुलनाकर अुस-में आवश्यक परिवर्तन करना दूसरी बात है। प्रत्येक जमानेमें नवीन-नवीन संयोग हमारे सामने अुपस्थित कर परमात्मा हमारी बुद्धि-शक्तिको आजमानेके लिये सामग्री अुपस्थित करता रहता है और अुसके द्वारा धर्मके मूलभूत सिद्धान्तोंका परिचय हममें पुनः-पुनः जाग्रत करता है। बाह्य आकार में यदि बार-बार परि-वर्तन न हो तो आन्तरिक सच्चे स्वरूपका दर्शन असम्भव हो जाय। यदि हमारे जमानेमें पूर्वजोंकी ही बुद्धि-हीन नक़ल हम करते चले जायँ; कुछ भी नवीन न करें, कोअी आविष्कार भी न करें, तब तो कहा जायगा कि हमारी शताब्दि वन्ध्या साबित हुअी।

प्राचीनकालसे ही हमारे देशमें भिन्न-भिन्न धर्म और जातियां अेकत्र रहती आअी हैं। प्रत्येक बार अैसे सहवासके कारण हमें भिन्न-भिन्न धर्म प्रवचन करना पड़े हैं। आवश्यकतानुसार अेक ही धर्म-सिद्धान्तको, भिन्न-भिन्न शंकाओं और दोषोंको दूर करने-के लिये, भिन्न-भिन्न शब्दों में जनताके सामने अुपस्थित करना पड़ता है। और अिसीलिये यह धर्म अनेक कोण वाले तेजस्वी रत्नोंके समान अधिकाधिक दिव्य बनता गया।

विदेशी सत्ताकी अधीनता में रहते समय, धर्मको अत्यन्त हीन और कृत्रिम वायु-मण्डलमें दिन काटना पड़ता है। विरोधी लोग जिस समय आक्रमण करते रहते हैं तब भी धर्म-संस्करण-का स्वाभाविक विकास नहीं होता। यही डर लगा रहता है कि हम कोअी परिवर्तन करने जावें। और अुसी समय विरोधी लोग हमारी कमजोरी देखकर मर्माघात कर बैठें तब ? परकीय सत्ता स्वभावतः समभाव-शून्य होती है। वह रूढ़िको पहचानती है, प्राणको नहीं। अिसलिये वह कहती है, "पूर्वापरसे तुम्हारे जो रिवाज चले आये हैं अुन्हींकी रक्षा की जायगी। नवीन प्रथाअें तुम शुरू नहीं कर सकते, न अपने स्थानसे कहीं भी अिधर-अुधर हट ही सकते हो। पुराने कलेवरको हमारा अभयदान है। तुम्हारे प्राणको राजमान्य कर दें तो हमारे प्राण कैसे टिके रहेंगे ?" अिस तरह समभाव-शून्य तटस्थतामें सड़ी रूढ़ियाँ भी कानूनकी कृत्रिम सहायतासे टिकी रहती हैं।

'हिन्दू-ला' पर अमल करते समय पद-पदपर यही स्थिति विघ्न अुपस्थित करती है। न्यायमूर्ति तेलंगने अिस स्थितिके खिलाफ कअी वार अपनी अप्रसन्नता और घोर विरोध प्रकट किया था। प्रत्येक धर्म और समाजको अपनी व्यवस्थामें हेर-फेर करने-का अधिकार होना ही चाहिये। पर यह करनेके लिये आवश्यक स्वाधीनता, अेकता और योजना-शक्तिका भी समाजमें होना नितान्त आवश्यक है। बड़े-से-बड़ा त्याग करके हमें अुसका विकास अपने अन्दर अवश्य ही करना चाहिये। यदि हिन्दू-धर्म-को प्राणवान बनाये रखना है, संसारमें अुसे अपना स्वाभाविक स्थान पुनःप्राप्त करना है, यदि अुसे समाज-कल्याणकारी बना लेना है तो धैर्य-पूर्वक हमें अुसकी गंदगीको धो डालना चाहिये। कितने ही अैसे खयालात और रूढ़ियाँ हमारे समाजके अन्दर बद्धमूल हो गअी हैं कि जो धर्मके सनातन सिद्धान्तोंके विपरीत हैं

अौर जो समाजकी प्रगतिमें बुरी तरह बाधक हो रही हैं। अुन सबकी हमें अेकदम होली कर देना चाहिये।

अस्पृश्यता अिन्हीं बुराअियोंमें से अेक है। जातिगत अहंकार और संकुचित प्रेम दूसरी बुराअी है। जहाँ रूढ़िके नाम पर दया-धर्मका खून हो रहा हो, जहाँ आत्माका अपमान हो रहा हो, जहाँ धर्म-प्रीतिके बदले लालच और भीति को स्थान दिया जा रहा हो वहाँ धर्मको अिन बुराअियोंके खिलाफ अपनी बुलन्द आवाज़ अुठानी चाहिये। सरकारी अधिकारिकोंको रिश्वत देकर अपना मतलब गाँठनेवाले लोग अेक परमात्माको—अीश्वरको छोड़कर अुसके बदले अनेक भयानक शक्तियोंको लालच दिखाना धर्म समझने लग गये। तानाशाह, तामसी, सनकी और खुशामद-प्रिय अधिकारियोंकी अधीनतामें रह कर नामर्द बने हुअे लोग देव-देवियोंका स्वभाव भी अुन्हींके जैसा समझकर अुनके प्रति भी भय-वृत्तिका विकास करने लगे; और अिस तरह अपने धर्ममें अधर्मका साम्राज्य स्थापित किया। सत्यनारायणसे लगाकर कालभैरव तक सभी देवताओंको हमने डरावने गुंडे (Bullies) बना रक्खा है। आकाशस्थ तारकाअें, ग्रह, जंगलके वृक्ष और वनस्पतियाँ, हमारे भाअी-बन्धु, पशु-पक्षी, अूषा और सन्ध्या, ऋतु और संवत्सर प्रत्येक स्थानपर, जहाँ कि हमारे ऋषि अुस परम मंगलकी प्रेममय विभूतियोंका साक्षात्कार करते थे, अुनके साथ आत्मीयता और अेकताका अनुभव करते थे, वहाँ आज हमें भय, भय और सिवा भयके और कुछ दीखता ही नहीं। धर्मका शुद्ध और अुदात्त तत्त्व जाननेवाले लोग हमारे विधि-विधानोंके अन्दर रहनेवाले काव्यको देख सकते हैं। परन्तु अज्ञ-जन-समुदाय काव्यको सनातन सिद्धान्त अथवा वास्तविक स्थिति मानकर विचित्र अनुमान करते हैं और अुन्हींको पकड़ बैठकर धर्मका कार्य विफल कर डालते हैं।

आज हिन्दू-धर्मका अुत्कर्ष चाहनेवाले प्रत्येक मनुष्यका यही प्रथम कर्तव्य है कि वह अिस बातकी कोशिश करे कि अुसके समाजमें धर्मका शुद्ध स्वरूप प्रकट हो। जिसमें सत्यकी निर्भयता नहीं, त्यागकी अक़्लमन्दी नहीं, अुदारताकी सुगन्ध नहीं, वहाँ धर्म है ही नहीं—यह हमें निश्चित रूपसे समझ लेना और लोगोंको समझाना भी चाहिये। हिन्दू-धर्मके संस्करणका समय आ गया है क्योंकि अुसपर जमी हुअी गर्द अुसका दम घोंट देनेको है।

जीवित अितिहास

१

जीवित अितिहास

हिन्दुस्तानका अितिहास हिन्दुस्तानियों द्वारा नहीं लिखा गया है। रामायण और महाभारत आजके अर्थमें अितिहास नहीं कहे जा सकते। आधुनिक दृष्टिसे तो वे अितिहास हैं भी नहीं। रामायण, महाभारत और पुराणोंमें भी कुछ अितिहास तो है, लेकिन वह सब धर्मका निश्चय करनेके लिये दृष्टान्तरूप है। महावंश और दीपवंश अितिहास माने जा सकते हैं, पर वे लंकाके हैं, और अुनमें अितहासकी चर्चा बहुत कम हुअी है। काश्मीरकी राजतरंगिणीके विषयमें भी यही कहना पड़ता है। तो फिर हमारा अितिहास क्यों नहीं है ? जीवनके किसी भी अंगको लीजिये, हम लोगोंने अुसमें असाधारण प्रवीणता प्राप्त की है; फिर भी हमारे यहाँ अितिहास क्यों नहीं ?

अितिहासका अर्थ है, मनुष्य-जातिके सम्मुख अुपस्थित हुअे प्रश्नोंका अुल्लेखन। अिनमेंसे कुछ प्रश्नोंका निराकरण हुआ है, और कुछ अभीतक अनिर्णीत हैं। जिन प्रश्नोंका निश्चय हो सका है, वे अब प्रश्न नहीं रहे; अुनका निराकरण हो चुका; अब वे समाजमें—सामाजिक जीवनमें—संस्कार-रूपसे प्रविष्ट हो गये हैं। जिस प्रकार पचे हुअे अन्नका रक्त बन जाता है, अुसी प्रकार अिन प्रश्नोंने राष्ट्रीय मान्यता या सामाजिक संस्कार-का रूप प्राप्त कर लिया है। खाना हज़म हो जानेपर मनुष्य अिस बातका विचार नहीं करता कि कल अुसने क्या खाय

था। ठीक अिसी तरह जिन प्रश्नोंका अुत्तर मिल चुका है, अुनके विषयमें भी वह अुदासीन रहता है।

अब रहा सवाल अनिर्णीत प्रश्नोंका। हम लोग परमार्थी (Serious) हैं। हम अनिर्णीत प्रश्नोंको कागज़पर लिखकर छोड़ देना नहीं चाहते। अनिर्णीत प्रश्नोंमें मतभेद होते हैं। जितने मतभेद होते हैं, अुतने ही सम्प्रदाय हम खड़े कर देते हैं। वेदोंके अुच्चारणमें मतभेद हुआ, तो हमने भिन्न-भिन्न शाखाअें खड़ी कर दीं! ज्योतिषमें मतभेद हुआ, तो वहाँ भी हमने स्मार्त्त और भागवत अेकादशियाँ अलग-अलग मानीं। दर्शनशास्त्रमें तत्त्वभेद मालूम हुआ, तो हमने द्वैतवादी तथा अद्वैतवादी संप्रदायोंका निर्माण किया। आहार या व्यवसायमें भेद हुआ, तो हमने भिन्न-भिन्न जातियाँ बना लीं। जहाँ सामाजिक रीति-रिवाजोंमें मतभेद हुआ, वहाँ हमने झट अुपजातियाँ खड़ी कर दीं। अगर ग़लतीसे कोअी आदमी किसी रिवाजको तोड़ दे या बड़े-से-बड़ा पाप करे, तो अुसके लिये भी प्रायश्चित्त है; सिर्फ अुसके लिये नअी जाति खड़ी नहीं की जाती। महान् अैतिहासिक और राष्ट्रीय महत्त्वकी घटनाओंके अितिहासको हम लोग त्योहारों द्वारा जाग्रत रखते हैं। अिसी तरह हरअेक सामाजिक आन्दोलनके अितिहासको, अुस आन्दोलनके केन्द्रको, तीर्थका रूप देकर हम लोगोंने जीवित रखा है। अिस तरह अितिहास लिखनेकी अपेक्षा अितिहासको जीवित रखना, अर्थात् जीवनमें अुसे चरितार्थ कर दिखाना, हमारे समाजकी खूबी है। चिथड़ोंके बने कागज़पर अितिहास लिखकर अुसे सुरक्षित रखना अच्छा है, या जीवनमें ही अितिहासका संग्रह करके रखना अच्छा है? क्या यह कहना मुश्किल है कि अिन दोनोंमेंसे कौनसा मार्ग अधिक सुथरा हुआ है? जबतक हमारी परम्परा टूटी नहीं थी, तबतक हमारा अितिहास हमारे जीवनमें

जीवित था ! आज भी यदि लोगोंके रीति-रिवाजों, अुनकी धारणाओं, जातीय संगठनों और त्योहारोंकी खोज की जाय, तो बहुत-सा अितिहास मिल सकता है, हाँ, यह ठीक है कि वह अधिकांशमें राजकीय या राजनीतिक नहीं बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय होगा। क्या अितिहासके संशोधक अिस दिशामें परिश्रम न करेंगे ?

२

शारदाका अुद्बोधन

हम नहीं जानते कि किस नवमीको सुरोंने शारदाका अुद्बोधन किया था। लेकिन वह अत्यन्त शुभ, सुभग और कल्याणकारी मुहूर्त्त होना चाहिये। समृद्धिदायी वर्षाके बाद जो शान्ति, जो निर्मलता, जो प्रसन्नता दृष्टिगोचर होती है, अुसीमें देवताओंको शारदाका दर्शन हुआ। धरतीने अभी हरा रंग नहीं छोड़ा है, परिपक्व धान्य सुवर्णवर्णकी शोभा फैला रहे हैं— अैसे समयपर देवोंने शारदाका ध्यान किया। सज्जनोंके हृदयोंके समान स्वच्छ पानीमें विहार करनेवाले प्रसन्न कमल और आकाशमें अनन्त काव्यके फ़व्वारे छोड़नेवाला रसस्वामी चन्द्र, ये दोनों जब अेक-दूसरेका ध्यान कर रहे थे, अुसी समय देवोंने शारदाका आवाहन किया। शारदा आअी और अुससे पृथ्वीके वदन-कमल पर सुहास्य फैला। शारदा आअी और वनश्रीका गौरव खिल उठा शारदा आअी और घर-घर समृद्धि बढ़ गअी। शारदा आयी और वीणाका झंकार शुरू हुआ; संगीत और नृत्य ठौर-ठौर आरम्भ हुअे।

शारदाका स्वरूप कैसा है ? बाला ? मुग्धा ? प्रौढ़ा ? या पुरंध्री ? शारदा मंजुलहासिनी बाला नहीं है, मनमोहिनी मुग्धा नहीं है, विलासचतुरा प्रौढ़ा नहीं है। वह तो नित्ययौवना किन्तु स्तन्यदायिनी माता है। वह हमारे साथ हँसती है, खेलती है;

मगर वह हमारी सखी नहीं, माता है। हम अुसके साथ बालोचित क्रीड़ा कर सकते हैं; लेकिन हम यह न भूलें कि हम माताके सम्मुख खड़े हैं। माता अर्थात् पवित्रता, वत्सलता, कारुण्य और विश्रब्धता। माता अर्थात् अमृत-निधान। 'न मातुः परदैवतम्।' यह वचन किसी अुपदेशप्रिय स्मृतिकारका गढ़ा हुआ नहीं है। यह तो किसी मातुः पुत्र धन्य बालककी अमृतवाणी है।

चराचर सृष्टिकी अेकताका अनुभव करनेवाले हम आर्य सन्तान अेक ही शब्दमें अनेक अर्थोंको देखते हैं। शारदा यानी सरोवरमें विराजमान कमलोंकी शोभा। शारदा यानी शरत् पूनो और दीवालीकी कान्ति। शारदा यानी यौवनसहज व्रीड़ा। शारदा यानी कपिलक्ष्मी। शारदा यानी साहित्य-सरिता। शारदा यानी ब्रह्मविद्या, चिच्छक्ति। शारदा यानी विश्वसमाधि। अैसी ही यह हमारी माता है; हम अुसके बालक हैं। कितनी धन्यता! कितनी स्पृहणीय पदवी! कितना अधिकार! और साथ ही कितनी बड़ी दीक्षा!

शारदाके स्तन्यका स्पर्श जिन होठोंको हुआ हो, वे होंठ अपवित्र वाणीका अुच्चारण नहीं करेंगे; निर्बलताके वचन मुँहसे नहीं निकालेंगे; द्वेषका सूचन तक न करेंगे; पापको नहीं सँवारेंगे; पौरुषकी हत्या नहीं करेंगे, और मुग्धजनोंको धोखा न देंगे।

शारदाके मन्दिरमें सर्वोच्च कला हो, कलाके नामपर विचारनेवाली विलासिता नहीं। शारदाके भवनमें प्रेमका वायुमंडल हो, केवल सौन्दर्यका मोहन नहीं। शारदाके अुपवनमें प्राणोंका स्फुरण हो, निराशाका निःश्वास नहीं। शारदाके लताकुञ्जों-में विश्वप्रेमका संगीत हो, परस्पर अनुनयका मूर्खतापूर्ण कलकूजन नहीं। शारदाके विहारमें स्वतंत्रताकी धीरोदात्त गति हो, उद्देश्यहीन और स्खलनशील पद-क्रम नहीं। शारदाके पीठमें ब्रह्मरसका प्रवाह हो, विषय-रसका अुन्माद नहीं।

माता शारदा! आशीर्वाद दे कि हमें तेरा स्मरण अखंड बना रहे! जब हम अधिकारी बनें, तो तू हमें अपने दर्शन दे! अगर हमारा ध्यान अविचल रहे, हमारी भक्ति अेकाग्र और अुत्कट बने, तो तू हमें अपनी दीक्षा दे। और जब हम तेरी अखंड सेवाके लायक बन जायँ तब अितनी भिक्षा दे कि केवल तेरी सेवाकी ही धुन हमेशा हमपर सवार रहे! तुझे कोटिशः प्रणाम हैं!

या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

अक्तूबर, १६२४

३

जन्माष्टमीका अुत्सव

देशकी राजनैतिक स्थितिके बारेमें अेक वृद्ध साधुके साथ अेक बार मेरी बातचीत हुअी थी। बातचीतके सिलसिलेमें मैंने राजनिष्ठाके बारेमें कुछ कहा। साधु महाराज अेकदम बोल अुठे: "अजी, हिन्दुस्तानमें तो दो ही राजा हुअे हैं। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र और जगद्‌-गुरु श्रीकृष्ण। आज भी अिन दोनोंका ही हम लोगोंपर राज्य चल रहा है। राजनिष्ठा तो अुन्हींके प्रति हो सकती है। जमीनपर या पैसेपर राज्य करने-वाले चाहे जो हों, लेकिन हिन्दुओंके हृदयोंपर राज्य चलानेवाले तो ये दो ही हैं।" मुझे यह बात बिलकुल सही मालूम हुअी। भजन पूरा करके 'राजा रामचन्द्रकी जय' या 'कृष्णचन्द्रकी जय' पुकारकर लोग जय-जयकार करते हैं, अुस समय जिस तरहकी भक्तिका अुद्रेक दीख पड़ता है, अुस तरहकी भक्ति दूसरे किसी भी मानवी व्यक्तिके प्रति पैदा नहीं होती।

श्रीरामचन्द्रजीका जीवन जितना अुदात्त है, अुतना ही सुगम

भी है। रामचन्द्र, आर्य पुरुषोंके आदर्श पुरुष—पुरुषोत्तम हैं। सामाजके नीति-नियमोंका रस्म-रिवाजोंका, वह परिपूर्ण पालन करते हैं। अितना ही नहीं, वल्कि रामचन्द्रजी लोकमतको अितना मान देते हैं कि जो किसी भी प्रजासत्ताक राज्यके राष्ट्राध्यक्षके लिये आदर्शरूप हो सकता है। रामचन्द्रजीमें यह निश्चय दृढ़ है कि 'मेरा अशेष जीवन समाजके लिये है'।

श्रीकृष्ण भी पुरुषोत्तम हैं; लेकिन अलग युगके। श्रीकृष्णमें यह वृत्ति दिखाअी देती है कि जब समाज-संगठन स्वयं ही आत्मिक अुन्नतिमें बाधक होता है, तब अुसके बंधन तोड़ दिये जायें और नवीन नियम बनाये जायें। फिर भी श्रीकृष्ण अराजक वृत्तिके नहीं थे। लोकसंग्रहका महत्त्व वे अच्छी तरह जानते थे। श्रीकृष्णने धर्मको अेक नया ही रूप दिया। और अिसीलिये श्रीकृष्णके जीवनका हरअेक प्रसंग रहस्यमय बना है। कोअी व्याकरणकार जिस तरह अेक बड़ा सर्वव्यापी नियम बनानेके बाद अुसके अपवादोंको अेक सूत्रमें ग्रथित करता है, अुसी तरह श्रीकृष्णने मानो अपने जीवनमें मानवधर्मके सभी अपवाद सूत्रबद्ध किये हैं। गोपियोंसे अत्यन्त शुद्ध पवित्र किन्तु मर्यादा-रहित प्रेम; रिश्तेमें मामा होते हुअे भी दुराचारी राजाका वध, भक्तकी प्रतिज्ञाको सच्चा साबित करनेके लिये अपनी प्रतिज्ञाका भंग करके भी युद्धमें शस्त्र-ग्रहण, आदि सब प्रसंगोंमें 'तत्त्वकी रक्षाके लिये नियमभंग'के दृष्टांत हैं। श्रीकृष्णने आर्य-जनताको अधिक अन्तर्मुख और अधिक आत्मपरायण बनाया और अपने जीवन और अुपदेशसे यह सिद्ध करके दिखाया कि भोग और त्याग, गृहस्थाश्रम और संन्यास, प्रवृत्ति और निवृत्ति, ज्ञान और कर्म, अिहलोक और परलोक आदि सब द्वन्द्वोंका विरोध केवल आभास रूप है। सबोंमें अेक ही तत्त्व अनुस्यूत है। आर्य-जीवनपर सबसे अधिक प्रभाव तो श्रीकृष्णका ही है।

फिर भी यह निश्चित करना मुश्किल है कि अिस प्रभावका स्वरूप क्या है। जिस प्रकार सरल भाषामें लिखी हुअी भगवद्-गीताके अनेक अर्थ किये गये हैं, अुसी प्रकार कृष्ण-जीवनके रहस्यका भी विविध प्रकारसे वर्णन किया गया है। जिस तरह वाल्मीकि-रामायणके श्रीरामचन्द्रजी और तुलसीरामायणके श्रीरामचन्द्रजीके बीच महदन्तर है, अुसी तरह महाभारतके श्रीकृष्ण, भागवतके श्रीकृष्ण, गीत-गोविन्दके श्रीकृष्ण, चैतन्य-महाप्रभुके श्रीकृष्ण और तुकाराम महाराजके श्रीकृष्ण अेक होते हुअे भी भिन्न हैं। वर्त्तमानकाल में भी नवीनचन्द्र सेनके श्रीकृष्ण, बाबू बंकिमचन्द्रके श्रीकृष्णसे अलग हैं; गांधीजीके श्रीकृष्ण, तिलकजीके श्रीकृष्णसे भिन्न हैं; और बाबू अरविन्द घोषके श्रीकृष्ण तो सबसे न्यारे हैं। सुलभ और दुर्लभ, अेक और अनेक, रसिक और विरागी, विप्लवी और लोकसंग्राहक, प्रेमल और निष्ठुर, मायावी और सरल—अैसे अनेक प्रकारके श्रीकृष्ण की जयन्ती किस तरह मनाअी जाय, यह निश्चित करना महा कठिन काम है।

श्रीकृष्णका चरित्र अुतना ही व्यापक है जितना कि कोअी संपूर्ण जीवन हुआ करता है। दुनियाकी प्रत्येक स्थितिका श्रीकृष्ण-ने अनुभव किया है। हरअेक स्थितिके लिये अुन्होंने आदर्श अुपस्थित किया है। श्रीकृष्णकी बाल्यावस्था अतिशय रम्य है। गायों और बछड़ोंपर अुनका प्रेम, वनमालाओंके प्रति अुनकी रुचि, मुरलीका मोह, बालमित्रोंसे अुनका स्नेह, मल्लविद्याकी ओर अुनका अनुराग, सभी कुछ अद्‌भुत और अनुकरणीय है। छोटे लड़के जरूर अिन बातोंका अनुकरण करें। सुदामाके स्नेहको याद करके जन्माष्टमीके दिन हम अपने दूर रहनेवाले मित्रोंको चार दिन अेक साथ रहनेके लिये, श्रीकृष्णका गुणगान करके खेलनेके लिये बुला लें, तो बहुत ही अुचित होगा।

श्रीकृष्णके मनमें छोटा या बड़ा, अमीर या गरीब, ज्ञानी या अज्ञानी, सुरूप या कुरूप, किसी भी प्रकारका भेद न था। गौओंको चराने जाते समय श्रीकृष्ण अपने सभी साथियोंसे कहते कि हरअेक बालक घरसे अपना-अपना कलेवा ले आवे। फिर वे सबका कलेवा अेक साथ मिलाकर प्रेमसे सबके साथ वन-भोजन करते थे। आज भी हम अेक स्कूलके विद्यार्थी, अेक दफ्तरके कर्मचारी, अेक मिलके मज़दूर, अेक क्लबमें खेलनेवाले सदस्य अिकट्ठा होकर, अपने-अपने घरसे खानेका सामान लाकर, शहर या गाँवके बाहर किसी कुअेंपर या नदीके किनारे, पेड़के नीचे गपशप करते, गाते, खेलते या भजन करते हुअे दिन बितायें तो अुसमें कैसी नयी-नयी खूबियाँ प्रगट होंगी! लेकिन अिस वन भोजनमें लड्डू पकौड़ी या चिवड़ा-चबैना नहीं चलेगा। कृष्णाष्टमीके दिन मुख्य आहार तो गोरसका ही होना चाहिये। दूध, दही, मक्खन और कन्द-मूल-फलका आहार ही अिस दिन के लिये अुचित है। धर्म-संशोधक जगद्‌गुरुका जिस दिन जन्म हुआ, अुस दिन तो लड़के अिस प्रकारका सात्त्विक आहार ही करें। बड़ी अुम्रके लोग अुपवास रक्खें।

अुपवासकी प्राचीन प्रथा नहीं छोड़नी चाहिये। अुसमें काफ़ी गहरा रहस्य है। अुपवाससे मन अन्तर्मुख हो जाता है। दृष्टि निर्मल होती है। शरीर हलका रहता है। बहुतोंका यह अनुभव है कि समय-समय पर अुपवास करनेकी आदत हो, तो अुपवासके दिन मन अधिक प्रसन्न रहता है। अुपवास से वासना शुद्ध होती है, संकल्प-शक्ति बढ़ती है। शरीरमें दोष न हो, तो अुपवास करनेसे चित्त अेकाग्र होता है, और धर्मके गहरे-से-गहरे तत्त्व स्पष्ट होते जाते हैं। अगर बुद्धियोग हो, तो अुपवास करके धर्मतत्त्वका चिंतन किया जाय; और जिसमें अितनी शक्ति न हो, वह श्रद्धावान लोगोंके साथ धर्मचर्चा करे। यह भी न हो

सके, तो गीताका पारायण (पाठ) किया जाय; नामसंकीर्तन, भजन आदि किया जाय; सात्त्विक संगीतके साथ भजन गाये जायँ। अुपवासके दिन रोजमर्राके व्यावहारिक काम जहाँतक हो सके, कम किये जायँ; लेकिन खाली समय आलस, निद्रा या व्यसनमें न विताया जाय। वहुत वार हमें सुन्दर-सुन्दर धार्मिक वचन, भजन या पद मिल जाते हैं; लेकिन अुन्हें लिख रखनेके लिये समय नहीं मिलता! अिस दिन अुनको लिखनेमें समय विताया जाय, तो अच्छा होगा।

जिनमें सार्वजनिक कार्य करनेकी शक्ति हो, अुनके लिये अिससे अच्छा और क्या हो सकता है कि वे गोपालके जन्मोत्सवके दिनसे गोरक्षाका आन्दोलन शुरू करें। श्रीकृष्णके साथियोंको जितना दूध और घी मिलता था, अुतना दूध और घी जवतक हमारे वच्चोंको नहीं मिलता, तवतक यह नहीं जा सकता कि हमने श्रीकृष्ण जन्मोत्सव ठीक-ठीक मनाया है। श्रीकृष्ण अप्रतिम मल्ल थे, गृहस्थाश्रमें रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करते थे। वे दीर्घायु थे। अिसलिये हरअेक अखाड़ेमें जन्मोत्सव मनाया जाना चाहिये और श्रीकृष्णके जीवनके अिस भूले हुअे अंगकी याद फिरसे ताजी करनी चाहिये।

जो पांडित्यमें ही जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, उनके लिये सवसे अच्छा काम यह हो सकता है कि जिस तरह गीतामें श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश दिया है, अुसी तरह अुनके भिन्न-भिन्न अवसरपर कहे हुअे तमाम वचन महाभारत तथा भागवत् विष्णुपुराण और हरिवंशमेंसे जितने मिल सकें, उतने सव संग्रहीत करें। और उसके वाद अिन वचनोंका संदर्भ देखकर, श्रीकृष्णचरित्रके अनुसार गीताजीका अर्थ लगायें। और अिस महान् जगद्गुरुका तत्त्वज्ञान (फिलॉसफी ऑव् लाइफ़) क्या था,

अुसकी राजनीति कैसी थी, आदि बातें निश्चित करके लोगोंके सामने रक्खें।

* * *

यह बहुत नाजुक सवाल है कि जन्माष्टमीका दिन स्त्रियाँ किस तरह मनायें। भक्तिके अतिरेकके स्वरूपका नारदने अपने भक्तिसूत्रमें वर्णन किया है। अुसपरसे मनोवृत्तियोंको गोपी समझकर परब्रह्म पुरुषपर वे कितनी मुग्ध थीं, अिसका वर्णन कअी कवियोंने अितना ज्यादा किया है कि श्रीकृष्णके जीवनके परिपूर्ण रहस्यको जनता लगभग भूल ही गअी है। श्रीकृष्णको गोपीजनवल्लभ कहा गया है। श्रीकृष्ण और गोपियोंके बीचका प्रेम कितना विशुद्ध और आध्यात्मिक बन गया था; अिसकी कल्पना जिन हृदयोंको नहीं आ सकी, अुन्होंने या तो श्रीकृष्णको नीचे घसीट लिया है, अथवा अुस प्रेमका वर्णन करनेवाले कवियोंको हलकी वृत्तिका और असत्यवादी ठहराया है। मेरा कहना यह नहीं है कि कृष्ण और गोपियोंके बीचके प्रेमका वर्णन करनेमें कवियोंने भूल नहीं की है। मैं तो यही मानता हूँ कि समाजकी स्थितिको देखकर कवियोंके लिये अधिक सावधानीके साथ अुस प्रेमका वर्णन करना अुचित था। मुसलमानी धर्मके सूफी सम्प्रदायके सन्त कवियों और फकीरोंको सजा देते समय कट्टर मुसलमान बादशाह कहते थे कि ये साधु जो कहते हैं, वह गलत नहीं है; लेकिन अनधिकारी समाजके सामने अिस तरहकी रहस्यमय बातें रखकर ये समाजको नुकसान पहुँचाते हैं और अिसीलिये ये सजाके पात्र हैं। चूँकि गोपियोंके प्रेमको हम नहीं समझ सकते, अिसलिये अुस प्रेमको अैसा स्वरूप देनेकी कअी आवश्यकता नहीं, जो हमारी वर्तमान नीति-कल्पनाओंको पसन्द आये। मीराबाअीने स्पष्ट ही दिखाया है कि गोपियोंका प्रेम कैसा था। जब-जब लोगोंके मनसे धर्मके अूपरकी श्रद्धा अुठ जाती है,

तब-तब अुस श्रद्धाको फिरसे स्थिर करनेके लिये मुक्त पुरुष अिस संसारमें अवतार लेते हैं, और स्वयं अपने अनुभवसे और जीवनसे लोगोंमें धर्मके प्रति श्रद्धा पैदा करते हैं। अुसी तरह गोपियोंकी शुद्ध भक्तिके बारेमें जब लोगोंमें अश्रद्धा अुत्पन्न हुअी तब गोपियोंमेंसे अेकने—शायद राधाजी ही होंगी—मीराका अवतार लेकर प्रेमधर्मकी फिरसे संस्थापना की। यदि हम अीश्वर और भक्तके बीचका यह अनिर्वचनीय प्रेम-सम्बन्ध स्पष्ट कर सकें, तब तो गोपियोंके प्रेम और विरहके गीत गानेमें मुझे कोअी आपत्ति नहीं दिखाई देती। मीराके आदर्शका त्याग हमसे हो ही नहीं सकता। जमाना बुरा आ गया है, अिसलिये क्या हम मीराबाअीको भूल जायं? यह बात नहीं है कि श्रीकृष्णके साथ केवल गोपियोंका ही सम्बन्ध था। यशोदाजी बालकृष्णको पूजतीं, कुन्ती पार्थसारथीको पूजतीं, सुभद्रा और द्रौपदी कृष्णको बन्धुरूपमें पूजतीं,। श्रीकृष्णका यह सम्पूर्ण जीवन हमें अपनी स्त्रियोंके सामने रखना चाहिये। श्रीकृष्ण कितने संयमी थे, कितने नीतिज्ञ थे, कितने धर्मनिष्ठ थे, आदि सभी बातें स्त्रियोंके सामने स्पष्ट कर देनी चाहियें। और तभी गोपी-प्रेमका आदर्श अुनके सामने रखना चाहिये। प्रेम और मोहके बीच जो स्वर्ग और नरकके जितना भेद है, अुसे स्पष्ट करके दिखाना चाहिये। पुराणोंमें—भागवतमें— अेक बहुत सुन्दर प्रसंगका वर्णन आया है कि रास-लीलामें गोपियोंके मनमें मलिन कल्पना आते ही श्रीकृष्ण—असंख्य रूपधारी श्रीकृष्ण—अचानक अदृश्य हो गये और जब गोपियोंका मन पश्चात्तापसे पवित्र हुआ, तभी वे फिरसे प्रकट हुअे। अिसका रहस्य हरअेकको समझ लेना चाहिये। अिस रहस्यको किसी भी व्यक्तिसे छिपा रखनेमें कुशल नहीं। अधूरे ज्ञानसे अुत्पन्न होनेवाले दोषोंको हटानेका अुपाय सम्पूर्ण ज्ञान है; अज्ञान नहीं। प्रेमको अुसके विशुद्ध रास्तेसे हमें ले जाना चाहिये। प्रेम

दबानेसे नहीं दबता; बल्कि दबानेके प्रयत्नमें वह विकृत हो जाता है।

जन्माष्टमीके दिन हम सुदामा-चरित्र गायें, श्रीकृष्णजी द्वारा गोपियोंको दिया हुआ अुपदेश गायें, अुद्धवके हाथ श्रीकृष्णजीका गोपियोंको भेजा हुआ सन्देशा गायें, गीताका रहस्य समझ लें। रास खेलें और अुपवास रखकर शुद्ध वृत्तिसे अुसके अन्दरका रहस्य समझ लें।

जन्माष्टमीके दिन अगर हम गायकी पूजा करें, तो वह ठीक ही है। गायकी पूजा करनेमें हम पशुको परमेश्वर नहीं मानते, किन्तु अुस पूजा द्वारा गायके प्रति प्रेम और कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। नदीकी पूजा, तुलसीकी पूजा और गायकी पूजा अगर अच्छी तरह सोच-समझकर करें, तो अुससे अन्तःकरणको अच्छी-से-अच्छी शिक्षा मिलेगी, रस-वृत्तिका विकास होगा और हृदय पवित्र तथा संस्कारी बनेगा। प्रत्येक पूजामें अेक-सा ही भाव नहीं रहता। पूजा कृतज्ञतासे हो सकती है, वफ़ादारीके कारण हो सकती है, प्रेमके कारण हो सकती है, आदरबुद्धिसे हो सकती है, भक्तिसे हो सकती है, आत्मनिवेदन-वृत्तिसे हो सकती है या स्वस्वरूपानुसंधानके कारण भी हो सकती है। अिस तरह देखा जाय तो गायकी पूजा करनेमें अेकेश्वरवादी या अनीश्वरवादीको भी कोअी आपत्ति नहीं होनी चाहिये। निरीश्वरवादी ऑगस्टस काण्ट क्या मानवजातिकी स्त्री प्रतिमा बनाकर अुसकी पूजा नहीं करता था?

श्रावण-महीनेमें बहुत-सी गायें वियाती हैं। घरकी छोटी-छोटी लड़कियाँ अगर कृतज्ञताके साथ गायोंकी और अिधर-अुधर उछलने-कूदने व चरनेवाले छोटे-छोटे बछड़ोंकी हल्दी और रोलीसे पूजा करें, तो कितनी प्रेम-वृत्ति जाग्रत होगी!

कन्याशालाओंमें अनेक तरहसे कृष्ण-जयन्ती मनाअी जा

सकेगी। घरके अन्दरकी जमीन अच्छी तरह लीपकर सफेद पत्थरकी बुकनीसे और अबीर आदिसे चौक पूरनेकी प्रतियोगिता रक्खी जा सकेगी। लड़कियाँ गीत गायें, रास खेलें, कृष्ण-जीवनके भिन्न-भिन्न प्रसंगोंका गद्य और पद्यमें वर्णन करें, घरसे कलेवा लाकर सब मिलाकर खायें। अुस दिन स्कूलकी लड़कियोंको अपनी सहेलियोंयोंको भी साथ ले आनेकी अिजाजत हो, तो अधिक आनन्द आयगा और अधिक लड़कियाँ शिक्षाकी ओर आकर्षित होंगी। धार्मिक शिक्षाको यदि प्रभावकारी बनाना है, तो हर त्योहारके अवसरपर स्कूलको मन्दिरका स्वरूप दे देना चाहिये। यदि हम मूर्ति-पूजासे न डर गये हों, तो जन्माष्टमीके दिन स्कूलमें हिंडोला बँधवाकर लोरियाँ गायें। अिसमें लड़कियोंकी माताअें भी अवश्य भाग लेंगी।

आजकी कन्याशालाअें अभीतक समाजका अेक अंग नहीं बनी हैं, अुन्होंने समाजमें अभी तक जड़ नहीं पकड़ी है, और अिसीलिये अिन स्कूलोंको चलानेवाले अुत्साही देशसेवकोंका आधेसे ज्यादा परिश्रम बेकार जाता है। जन्माष्टमी जैसे त्योहार मनानेमें यदि समाजकी सभी स्त्रियाँ भाग लेने लग जायें, तो देखते-देखते शिक्षा सफल हो जायगी; शिक्षाका लाभ केवल स्कूलमें पढ़नेवाली लड़कियोंको ही नहीं, बल्कि सारे समाजको मिलेगा, और हम शिक्षाका जो पवित्र कार्य कर रहे हैं, अुसपर भी श्रीकृष्ण परमात्माकी अमृत-दृष्टि बरसेगी।

३०-८-२३

४

नवरात्रि

महिषासुर साम्राज्यवादी था। सूर्य, अिन्द्र, अग्नि, वायु, चन्द्र, यम, वरुण आदि सभी देवताओंके अधिकार और महकमे

वह स्वयं ही चलता था। स्वर्गके देवोंको अुसने भूलोकको प्रजा बना दिया था। किसीको भी अपने स्थानपर सुरक्षितताका अनुभव नहीं होता था। देव परमात्माके पास गये। परमात्माने सृष्टिकी जो व्यवस्था कर रखी थी, अुसे महिषासुरने कितना बिगाड़ डाला है, अिस बारेमें अुन्होंने भगवान्‌को सब-कुछ कह सुनाया। सब हाल सुनकर विष्णु, ब्रह्मा, शंकर आदि सब देवोंके शरीरोंसे पुण्यप्रकोप जाग अुठा और अुससे अेक दैवी शक्ति-मूर्ति अुत्पन्न हुअी। सब देवोंने अिस सर्वदेवमयी शक्तिको अपने-अपने आयुधोंकी शक्तिसे मंडित (लैस) किया, और फिर अिस दैवी शक्ति और महिषासुरकी आसुरी शक्तिमें भीषण युद्ध ठन गया। कौन कह सकता है कि वह युद्ध कितने सालों तक चला? लेकिन अैसा माना जाता है कि कुआर महीनेकी शुक्ला प्रतिपदा से लेकर दशमीतक यह युद्ध चलता रहा, और अुसके अनुसार दैवी शक्तिकी विजयका नवरात्रिअुत्सव हम मनाते हैं।

दैवी शक्ति परमा विद्या है; ब्रह्मविद्या है; आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व, और शिवतत्त्वका शुद्ध रूप है। यह शक्ति 'शठं प्रति शुभंकरी' है; 'अहितेषु साध्वी' है; दुश्मनके साथ भी वह दया प्रकट करती है। दुष्ट लोगोंके बुरे स्वभावको शान्त करना ही अिस दैवी शक्तिका शील है। 'दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि! शीलम्'

असुर लोग अिस शक्तिको न समझ सके। भक्त लोग जब दैवी शक्तिकी जय बोलने लगे, तो असुर परेशान होकर चिल्ला अुठे, "अरे यह क्या? अरे यह क्या?" आखिर असुरोंका राजा स्वयं ही लड़ने लगा। अुसने अनेक तरहकी नीतियाँ आजमाकर देखीं, अनेक रूप धारण किये, लेकिन अन्तमें 'निःशेष-देवगण-शक्ति समूहमूर्ति' की ही विजय हुअी। वायु अनुकूल बहने लगी; वर्षाने भूमिको सुजला सफला कर दिया, दिशाअें प्रसन्न हुअीं

और भक्तगण देवीका मंगल गाने लगे। देवीने भक्तोंको आश्वासन दिया कि, 'अिसी तरह फिर जब-जब आसुरी लोगोंके कारण आतंक फैल जायगा, तब-तब मैं स्वयं अवतार धारण करके दुष्टताका नाश करूँगी।'

यह महिषासुर प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें अपना साम्राज्य प्रस्थापित करनेकी भरसक कोशिश करता है, और अुस-अुस समय अुसके सब स्वरूपोंको पहचानकर अुसका समूल नाश करनेका कार्य दैवी शक्तिको करना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अंतःकरणकी जाँच-परख करनेपर यह जान सकता है कि अुसके हृदयमें यह युद्ध कितने सालों तक चलता रहा है। नवरात्रिके दिनोंमें अपने हृदयमें दीपको अखंडरूपसे प्रज्वलित रखकर हमें दैवी शक्तिकी आराधना करनी चाहिये; क्योंकि जब यह दैवी शक्ति प्रसन्न होती है, तो वही हमें मोक्ष प्रदान करती है।

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये।

२८-६-'२२

५

विजयादशमी

आगरेमें मुगलकालकी जो अिमारतें हैं, अुनमें अेक विशेषता यह है कि अुनके निचले खंड लाल पत्थरके हैं और अूपरवाले सफ़ेद पत्थरके। लाल पत्थरका काम जहांगीरके समयका है और सफ़ेद पत्थरका शाहजहांके समयका। हर अिमारतमें अिस तरह का कालक्रमका अितिहास वर्णभेदसे मूर्तिमान दिखाअी देता है।

किसी भी पुराने बड़े शहरमें पुरानी बस्ती और नअी बस्ती-अेक दूसरेसे सटी हुअी नजर आती है; या वस्तियोंकी तहों पर तहें जमी हुअी दिखाअी देती हैं। भाषाकी कहावतोंमें भी भिन्न-भिन्न समयका अितिहास समाया हुआ होता है। हम घरमें जमीनपर गच करनेके लिअे जो पत्थर बिछाते हैं, वे अैसे मालूम पड़ते हैं, गोया वह समूचा अेक ही पत्थर हो; मगर अुनमें भी प्रत्येक स्तर-में कअी बरसोंका अन्तर होता है। नदीके किनारे हर साल जो कीचड़की तहों पर तहें जम जाती हैं, अन्तमें अुन्हींसे धरतीकी भट्टीमें अेक पत्थर बन जाता है।

दशहरेका त्योहार भी अेक ही त्योहार होते हुअे भिन्न कालके भिन्न-भिन्न स्तरोंका बना हुआ है। दशहरेके त्योहारके साथ असंख्य युगोंके असंख्य प्रकारके आर्य पुरुषार्थोंकी विजय जुड़ी हुअी है।

मनुष्य-मनुष्यका संघर्ष जितना महत्त्वका है, अुतना ही या अुससे भी अधिक महत्त्वका संघर्ष मनुष्य और प्रकृतिके बीचका है। मानवको प्रकृतिपर जो सबसे बड़ी विजय मिली है, वह है खेती। जिस दिन जुती हुअी ज़मीनमें नौ प्रकारका अनाज बोकर कृत्रिम जलका सिंचन करके अुसमेंसे अपनी अजीविका तथा भविष्यके संग्रहके लिये पर्याप्त अनाज मनुष्य प्राप्त कर सका, वह दिन मनुष्यके लिये सबसे बड़ी विजयका था; क्योंकि अुस के बाद ही स्थिरतामूलक संस्कृतिका जन्म हुआ। अुस दिनकी स्मृतिको हमेशा ताजा रखना कृषि परायण आर्य लोगोंका प्रथम कर्त्तव्य था।

बीसवीं सदी भौतिक तथा यांत्रिक आविष्कारोंकी सदी समझी जाती है, और वह उचित भी है। लेकिन मानवजातिके अस्तित्व और संस्कृतिके लिये जो महान् आविष्कार कारणरूप हुअे हैं, वे सब आद्ययुगमें ही हुअे हैं। ज़मीनको जोतनेकी कला, सूत

कातनेकी कला, आग जलानेकी कला और मिट्टीसे पक्का घड़ा बनानेकी कला—ये चार कलाअें मानो मानवी संस्कृतिके आधार-स्तंभ हैं। अिन चारों कलाओंका अुपयोग करके विजयादशमीके दिन हमने कृषिमहोत्सवका निर्माण किया है।

अपने बचपनमें देखे हुअे पहले नवरात्रिके अुत्सवकी याद मुझे आज भी बनी हुअी है। मेरे भाअी प्रतिपदाके दिन शहरके बाहर जाकर खेतोंसे अच्छी-से-अच्छी साफ़ काली मिट्टी ले आये। मैं स्वयं नौ अनाजोंकी फ़ेहरिस्त बनाकर अुनमेंसे जो अनाज हमारे घरमें न मिले, अुन्हें अपने नानाके यहांसे ले आया। मेरी दादीने छोटी-सी धुनकीसे रूअी धुनकर अुसकी ९६ अंगुल लम्बी बत्ती बनाअीं। मेरी माँने सूत कातकर (चरखेपर नहीं बल्कि लोटेपर) अुस सूतकी अेक हज़ार छोटी-छोटी बातियां बनाअीं। मैं बाज़ारसे नारियल तथा पंचरत्न ले आया। पंचरत्नमें सोना, मोती, हीरा, प्रवाल, और नीलम या माणिक थे। अिन पंचरत्नोंके टुकड़े बहुत ही छोटे थे। मेरी भतीजी बगीचेसे फूल और तरह-तरहके पत्ते लाअी। पिताजीने स्नान करके देवगृहमें गायके गोबरसे लिपी हुअी भूमिपर अुस काली मिट्टीको फैलाकर अुससे अेक सुन्दर चौक बनाया। यह हुआ हमारा खेत। अुसके बीचोंबीच अेक लोटा रख दिया। अुस लोटेमें पानी भरा हुआ था। अुसके अन्दर अेक साबुत सुपारी, दक्षिणा, पंचरत्न आदि चीज़ें डाली गअीं थीं। अूपर आमके पेड़की अेक पाँच पत्तोंवाली छोटी-सी टहनी रखकर अुसपर अेक नारियल रखा था। सुन्दर आकारके लोटेमेंसे बाहर निकले हुअे आमके हरे-हरे पाँच पत्ते और अुनपर शिखरके समान दिखाअी देनेवाले नारियलका आकार देखकर हम बेहद खुश हुअे। पूजाकी तैयारी हुअी, चौकिया खेतमें नौ अनाज बोये गये। अुनपर पानी छिड़का गया।

बीचमें रखे हुअे घट (लोटे)की चन्दन, केसर और कुंकुमसे पूजा की गअी। यथाविधि सांग षोड़शोपचार पूजा हुअी। ६६ अंगुल लम्बी वत्तवाला दीपक जलाया गया। फिर आरती हुअी और घरमें सब कहने लगे कि आज हमारे यहाँ नवरात्रिकी घटस्थापना हुअी है। अुस नंदादीपको नौ दिन तक अखंड जलता रखना था। अुसका बीचमें बुझ जाना, महा अशुभ माना जाता था। दूसरे दिन पूजामें अेकके बदले दो मालाअें लटकाअी गअीं; तीसरे दिन तीन; चौथे दिन चार--अिस तरह मालाअें बढ़ती गयीं। अूपर मालाअें बढ़ीं और नीचेके खेतमें अंकुर फूट निकले। कअी अंकुर तो अपने दलोंके छाते बनाकर ही बाहर निकल आये थे। हमें हर रोज़ मिष्टान्न मिलता था; लेकिन पिताजी तो सिर्फ अेक ही समय भोजन करते और सारा दिन पीताम्बर पहनकर अुस नन्दादीपकी देखभाल करते। बत्ती न टूटे, तेल कम न पड़े, और दीया बुझने न पाये— अिस बातकी बड़ी फ़िकर रखनी पड़ती थी। रातको भी दो चार बार अुठकर तेल डालना, अूपर जमी हुअी कालिखको बड़ी सावधानीसे झटकना, आदि काम अुनको करने पड़ते थे।

जब नौ अनाजोंके अंकुर पूरी तरह फूट निकले, तो अुस समयकी खेतकी शोभा बहुत अवर्णनीय थी। कुछ अनाज जल्दी अुगे, कुछ देरीसे। मैं यह अच्छी तरह याद रखता कि कौनसे अनाज पहले अुगे हैं, और कौनसे बादमें। सभी अंकुर बिलकुल सफेद थे; क्योंकि नवरात्रिका यह 'खेत' घरके अन्दर था, और सूर्यके प्रकाशके बिना हरा रंग तो आ नहीं सकता। फिर पिताजी खेतपर हल्दीका पानी छिड़कने लगे। मैंने पूछा—"यह किसलिये ?" जवाब मिला—"अिसलिये कि अुगा हुआ अनाज सोनेके समान दिखाई दे !"

सातवें दिन सरस्वतीका आवाहन हुआ। घरमें जितनी

धार्मिक और संस्कृतकी किताबें और पोथियाँ थीं, अन सबको अेक रंगीन पटेपर रखकर हमने अुनकी पूजा की। हमें पढ़ाअीसे छुट्टी मिल गअी। अिसे अनध्याय कहते हैं। सरस्वतीका आवाहन, पूजन और विसर्जन तीन दिनमें हुआ। नवें दिन 'खंड' पूजन हुआ। 'खंड' पूजन यानी शस्त्रास्त्रोंका पूजन। अिस दिन हाथी घोड़ों जैसे युद्धोपयोगी जानवरोंकी भी पूजा की जाती है। अिस तरह नवरात्र पूरा हुआ और दसवें दिन दशहरा आया दशहरेके दिन होम, बलिदान और सीमोल्लंघन, ये तीन प्रमुख विधियाँ थीं। वह विद्यारंभका भी दिन था।

विजयादशमीके त्योहारमें चातुर्वर्ण्य अेकत्र हुआ दीखता है। ब्राह्मणोंके सरस्वती पूजन तथा विद्यारंभ; क्षत्रियोंके शस्त्र-पूजन, अश्वपूजन तथा सीमोल्लंघन और वैश्योंकी खेती ये तीनों बातें अिस त्योहारमें अेकत्रित होती हैं। और जहाँ अितनी बड़ी प्रवृत्ति चलती हो, वहाँ शूद्रोंकी परिचर्या तो समाविष्ट है ही। जब देहाती लोग नवरात्रिके अनाजकी सोने-जैसी पीली-पीली कोंपलें तोड़कर अपनी पगड़ियोंमें खोंसते हैं. और बढ़िया पोशाक पहनकर गाते-बजाते सीमोल्लंघन करने जाते हैं, तब ऐसा दृश्य आँखोंके सामने आ खड़ा होता है मानो सारे देशका पौरुष अपना पराक्रम दिखलानेके लिये बाहर निकल पड़ा हो।

दशहरेका अुत्सव जिस तरह कृषिप्रधान है, अुसी तरह वह क्षात्रमहोत्सव भी है। जिन दिनों भाड़ेके सिपाहियोंको मुर्गोंकी तरह लड़ानेका तरीक़ा प्रचलित नहीं था, अुन दिनों क्षात्र-तेज तथा राजतेज किसानोंमें ही परवरिश पाते थे। किसान यानी क्षेत्रपति-क्षत्रिय! जो सालभर भूमि माताकी सेवा करता हो, वही मौका आनेपर अुसकी रक्षाके लिये निकल पड़ेगा। नदियों, नालों, टेकरियों और पहाड़ोंके साथ जिसका रात-दिनका सम्बन्ध रहता है; घोड़ा, बैल-जैसे जानवरोंको जो अनुशासन

सिखा सकता है और सारे समाजको जो खाना खिलाता है, अुसमें सेनापति और राजत्वके सब गुण आ जायँ, तो आश्चर्य की क्या बात है ? राजा ही किसान है और किसान ही राजा है।

अैसी हालतमें कृषिका त्योहार क्षात्र-त्योहार बन गया। अिसमें पूरी तरह अैतिहासिक औचित्य है। क्षत्रियोंका प्रधान कर्तव्य तो स्वदेश-रक्षा ही है। परन्तु बहुत बार, शत्रुके स्वदेशमें घुसकर देशको बरबाद करनेसे पहले ही अुसके दुष्ट हेतुको पहचानकर स्वयं—सीमोल्लंघन करना—अपनी सीमा यानी सरहदको लाँघना और खुद शत्रुके मुल्कमें लड़ाअी ले जाना, होशियारीकी और वीरोचित बात मानी जाती है।

थोड़ा-सा सोचनेपर मालूम होगा कि अिस सीमोल्लंघनके पीछे साम्राज्यवृत्ति है। अपनी सरहद लाँघकर दूसरे देशपर अधिकार जमाना और वहाँसे धन-धान्य लूट लाना, अिसमें आत्म-रक्षाकी अपेक्षा महत्त्वाकांक्षाका ही अंश अधिक है। अिस तरह लूटकर लाया हुआ सोना अगर पराक्रमी पुरुष अपने ही पास रखे, तो वर्त्तमान युगके क्षत्रप्रकोप (Militarism) के साथ विट्प्रकोप (Industrialism) के मिल जानेकी भयानक स्थिति पैदा होगी।[1] जहाँ प्रभुत्व और धनिकत्व अेकत्र आ जाते

---

[1] 'क्षत्रप्रकोप' तथा 'विट्प्रकोप' अिन दो नये नामोंकी सार्थकता मुझे सिद्ध करनी चाहिये। चातुर्वर्ण्यका सन्तुलन या सामंजस्य तो समाज-शरीरकी स्वाभाविक स्थिति है। समाजके लिये अिन चारों वर्णोंकी आवश्यकताको स्वीकार कर लिया गया है। जिस तरह, जब व्यक्तिके शरीरमें वात, पित्त, और कफ ये तीन धातु अुचित अनुपातमें रहते हैं तभी शरीर नीरोगी रहता है, अुसी तरह समाज-शरीरमें चातुर्वर्ण्य अुचित अनुपातमें होना चाहिये। शरीरमें पित्तकी मात्रा बढ़ जाती है, तो अुसे पित्तप्रकोप कहते हैं। पित्तप्रकोपसे सारा शरीर खराब हो जाता है। यही

हैं, वहाँ शैतानको अलग न्योता देनेकी ज़रूरत नहीं रहती। अिसीलिये दशहरेके दिन लूटकर लाये हुअे सोनेको सब रिश्तेदारोंमें वितरित करना अुस दिनकी अेक महत्त्वकी धार्मिक विधि तय की गअी है।

सुवर्ण-वितरणकी अिस प्रथाका संबंध रघुवंशके राजा रघुके साथ जोड़ा गया है।

रघुराजाने विश्वजित् यज्ञ किया। समुद्रवलयांकित पृथ्वीको जीतनेके बाद सर्वस्वका दान कर डालना विश्वजित् यज्ञ कहलाता है। जब रघुराजाने अिस तरहका विश्वजित् यज्ञ पूरा किया, तब अुसके पास वरतन्तु ऋषिका विद्वान् और तेजस्वी शिष्य कौत्स जा पहुंचा। कौत्सने गुरुसे चौदहों विद्याअें ग्रहण की थीं; अुसकी दक्षिणाके तौरपर चौदह करोड़ सुवर्ण मुद्राअें गुरुको प्रदान करनेकी अुसकी अिच्छा थी। लेकिन सर्वस्वका दान करनेके बाद बचे हुअे मिट्टीके बर्तनोंसे ही राजाको आदरातिथ्य करते देख कौत्सने राजासे कुछ भी न माँगनेका निश्चय किया। राजाको आशीर्वाद देकर वह जाने लगा। रघुने बड़े आग्रहके साथ अुसे रोक रखा, और दूसरे दिन स्वर्गपर धावा बोलकर अिन्द्र और कुबेरके पाससे धन लानेका प्रबन्ध किया। रघुराजा चक्रवर्ती था। अतः अिन्द्र और कुबेर भी अुसके माण्डलिक थे। ब्राह्मणको दान देनेके लिये अुनसे कर लेनेमें संकोच किस

हालत वातप्रकोप और कफप्रकोपके विषयमें है। समाज-शरीरमें क्षात्रवर्गका अतिरेक या प्राबल्य हो जाय, तो अुस स्थितिको क्षत्रप्रकोप कहना ही अुचित है। यही बात विट्प्रकोप या वैश्यप्रकोपकी भी है। शरीरका नाश होनेका समय आनेपर तीनों धातुओंका प्रकोप हो जाता है। अिसे त्रिदोष कहते हैं। यूरपमें आज क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अिन तीनों वर्णोंका अेक साथ प्रकोप हुआ है, अैसा साफ़-साफ़ नज़र आ रहा है, और वहाँके ब्राह्मण अिन तीनों वर्णोंके किंकर बन गये हैं।

बातका था ? रघुराजाकी चढ़ाअीकी बात सुनकर देवता लोग डर गये। अुन्होंने शमीके अेक पेड़पर सुवर्णमुद्राओंकी वृष्टि की। रघुराजाने सुबह अुठकर देखा तो जितना चाहिये अुतना सुवर्ण आ गया था। अुसने कौत्सको वह ढेर दे दिया। कौत्स चौदह करोड़से ज्यादा मुद्रा लेता न था और राजा दानमें दिया हुआ धन वापस लेनेको तैयार न था। आखिर अुसने वह धन नगर-वासियोंको लुटा दिया। वह दिन आश्विन शुक्ला दशमीका था; अिसीलिये आज भी दशहरेके दिन शमीका पूजन करके लोग अुसके पत्ते सोना समझकर लूटते हैं और अेक-दूसरेको देते हैं। कुछ लोग तो शमीके नीचेकी मिट्टीको भी सुवर्ण समझ कर ले जाते हैं।

शमीका पूजन प्राचीन है। अैसा माना जाता है कि शमीके पेड़में ऋषियोंका तपस्तेज है। पुराने जमानेमें शमीकी लकड़ियोंको आपसमें घिसकर लोग आग सुलगाते थे। शमीकी समिधा आहुतिके काम आती है। पाण्डव जब अज्ञातवास करने गये थे, तब अुन्होंने अपने हथियार शमीके अेक पेड़पर छिपा रखे थे; और वहां कोअी जाने न पाये, अिसके लिये अुन्होंने अुस पेड़के तनेसे अेक नर कंकाल बाँध रखा था।

रामचन्द्रजीने रावणपर जो चढ़ाअी की, सो भी विजया-दशमीके मुहूर्तपर। आर्य लोगोंने—हिन्दुओंने—अनेक बार विजयादशमीके मुहूर्त पर ही धावे बोलकर विजय प्राप्त की है। अिससे विजयादशमी राष्ट्रीय विजयका मुहूर्त या त्योहार बन गया है। मराठे और राजपूत अिसी मुहूर्त पर स्वराज्यकी सीमाको बढ़ानेके हेतु शत्रु-प्रदेशपर आक्रमण करते थे। शस्त्रास्त्र से सजकर और हाथी-घोड़ोंपर चढ़कर नगरके बाहर जलूस ले जानेका रिवाज आज भी है। वहाँ शमीका और अपराजिता देवीका

पूजन सीमोल्लंघनका प्रमुख भाग है।[1]

अैसा माना जाता है कि शमी और अश्मंतक वृक्षमें भी शत्रुका नाश करनेका गुण है। अुस्तुरेके पेड़को अश्मन्तक कहते हैं। जहाँ शमी नहीं मिलती. वहाँ अुस्तुरेके पेड़की पूजा होती है। अुस्तुरेके पत्तेका आकार सोनेके सिक्के की तरह गोल होता है, और जुड़े हुअे जवाबी कार्ड (Reply Card) की तरह अुसके पत्ते मुड़े हुअे होते हैं, जिससे वे ज्यादा खूबसूरत दिखाअी देते हैं।

दशहरेके दिन चौमासा लगभग खत्म हो जाता है। शिवाजीके किसान-सैनिक दशहरे तक खेतीकी चिन्तासे मुक्त हो जाते थे। कुछ काम बाक़ी न रहता था। सिर्फ़ फ़सल काटना ही बाक़ी रह जाता था। पर अुसे तो घरकी औरतें, बच्चे और बूढ़े लोग कर सकते थे। अिससे सेना अिकट्ठी करके स्वराज्यकी सीमाको बढ़ानेके लिये सबसे नजदीक मुहूर्त दशहरेका ही था। अिसी कारण महाराष्ट्रमें दशहरेका त्योहार बहुतही लोकप्रिय था और आजभी है।

हम यह देख सके हैं कि विजयादशमीके अेक त्योहारपर अनेक संस्कारों. अनेक संस्करणों और अनेक विश्वासोंकी तहें चढ़ी हुअी हैं। कृषि-महोत्सव क्षात्र-महोत्सव बन गया; सीमोल्लंघनका परिणाम दिग्विजय तक पहुँचा; स्व-संरक्षणके साथ सामाजिक प्रेम और धनका विभाग करनेकी प्रवृत्तिका सम्बन्ध दशहरेके साथ जुड़ा। लेकिन अेक अैतिहासिक घटनाको दशहरेके साथ जोड़ना अभी हम भूल गये हैं, जोकि अिस ज़मानेमें अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'दिग्विजयसे धर्मजय श्रेष्ठ है। बाह्य शत्रुका

[1] महिषासुर नामके अेक प्रबल दैत्यने बड़ा आतंक फैलाया था। जगदंबाने नौ दिन तक अुससे युद्ध करके विजयादशमीके दिन अुसका वध किया था। अिस आशयकी अेक कहानी पुराणोंमें मिलती है। अिसीलिये अपराजिताका पूजन करने और महिष यानी भैंसेकी बलि चढ़ानेका रिवाज पड़ा है।

वध करनेकी अपेक्षा हृदयस्थ षड्रिपुओंको मारनेमें ही महान् पुरुषार्थ है। नवधान्यकी फ़सल काटनेकी बनिस्बत पुण्यकी फ़सल काटना अधिक चिरस्थायी होता है।" सारे संसारको असा अपदेश देनेवाले मारजित्, लोकजित्, भगवान् बुद्धका जन्म विजयादशमीके शुभ मुहूर्त पर ही हुआ था। विजयादशमीके दिन बुद्ध भगवान्का जन्म हुआ, और वैशाखी पूर्णिमाके दिन अुन्हें चार शान्तिदायी आर्यतत्त्वोंका और अष्टांगिक मार्गका बोध हुआ, यह बात हम भूल ही गये हैं। विष्णुका वर्तमान अवतार बुद्ध अवतार ही हैं। अिसलिये विजयादशमीका त्योहार हमें भगवान् बुद्धके मार-विजयका स्मरण करके ही मनाना चाहिये।

अक्तूबर, १६२२

६

दीवाली

(१)

बलि राजाने दानका व्रत लिया था। जो याचक जो वस्तु माँगता, राजा अुसे वह वस्तु दे देता। बलिके राज्यमें जीव-हिंसा, मद्यपान, अगम्यागमन चोरी और विश्वासघात—अिन पाँच महापापोंका कहीं नामतक न था। सर्वत्र दया, दान और अुत्सवका बोलबाला रहता था। अन्तमें बलिराजाने वामन-मूर्ति श्रीकृष्णको अपना सर्वस्व अर्पण किया। बलिकी अिस दानवीरताके स्मारकके रूपमें श्रीविष्णुने बलिके नामसे तीन दिन-रातका त्योहार निश्चित किया। यही हमारी दीवाली है। बलिके राज्यमें आलस्य, मलिनता, रोग और दारिद्र्यका अभाव था। बलिके राज्यमें या लोगोंके हृदयमें अंधकार न था। सभी प्रेमसे रहते थे। द्वेष, मत्सर या असूयाका कारण ही न था। बलिका राज्य जन साधारणके लिये अितना लोकोपकारी था कि अुसके कारण प्रत्यक्ष श्रीविष्णु अुसके द्वारपाल बनकर रहे। अिसी कारण

यह निश्चय किया गया कि बलिराजाके स्मारकस्वरूप अिस त्योहारसे पहले लोग कूड़ा-कचरा, कीचड़ और गंदगीका नाश करें, जहाँ-जहाँ अँधेरा हो वहाँ दीपावलिकी शोभा करें, लोगोंके प्राण लेनेवाले यमराजका तर्पण करें, पूर्वजोंका स्मरण करें, मिष्ठान्न भक्षण करें और सुगन्धित धूप-दीप तथा पुष्प-पत्रोंसे सुन्दरता बढ़ावें। अिन दिनों सायंकालकी शोभा अितनी मनोहारी होती है कि यक्ष, गंधर्व, किन्नर, औषधि, पिशाच, मंत्र और मणि सभी अुत्सवका नृत्य करते हैं। बलि-राज्यका स्मरण करके लोग तरह-तरहके रंगोंसे चौक पूरते हैं; सफेद चावल लगाकर भाँति-भाँतिके सुन्दर चित्र बनाते हैं; गाय, बैल आदि गृह-पशुओंको सजा-धजाकर अुनका जुलूस निकालते हैं; श्रेष्ठ और कनिष्ठ सब मिलकर यष्टिकाकर्षणका खेल खेलते हैं। यष्टिकाकर्षण युरोपीय लोगोंके रस्सी खींचनेके 'टग ऑफ़ वॉर'—जैसा अेक खेल है। अिसीको हमने 'गजग्राह' का नया नाम दिया है। पुराने जमानेमें राजा लोग दीवालीके दिन अपनी राजधानीके सभी लड़कोंको सार्वजनिक रूपसे आमंत्रण देते थे और अुनसे खेल खेलते थे।

सुगंधित द्रव्योंकी मालिश करके नहाना, तरह-तरहके दीये क़तारमें जलाना और अिष्ट-मित्रोंके साथ मिष्टान्नका भोजन करना दीवालीका प्रधान कार्यक्रम है। बलिके राज्यमें प्रवेश करना हो तो द्वेष, मत्सर, असूया, अपमान आदि सब भूलकर सबके साथ अेकदिल हो जाना और अिस तरह निष्पाप होकर नये वर्षमें प्रवेश करना हमारा प्राचीन रिवाज है।

अिसी दिन सत्यभामाने श्रीकृष्णकी मददसे नरकासुरका नाश करके सोलह हजार राजकन्याओंको मुक्त किया था।

दीपावलिके अुत्सवमें स्त्रियोंकी अपेक्षा नहीं की गअी है। स्त्री-पुरुषोंके सब सम्बन्धोंमें भाअी-बहनका संबंध शुद्ध सात्विक

प्रेम और समानताके अुल्लासका होता है। पति-पत्नीका या माता-पुत्रका सम्बन्ध अितना व्यापक और अितना सात्विक अुल्लासयुक्त नहीं होता।

धन-तेरससे लेकर भाअी दूज तकके पाँचों दिनोंके साथ यम-राजका नाम जुड़ा हुआ है। भला, अिसका अुद्देश्य क्या होगा?

अिन्द्रप्रस्थका राजा हंस मृगयाके लिये घूम रहा था। हैम नामक अेक छोटेसे राजाने अुमका आतिथ्य किया। अुसी दिन हैमके यहाँ पुत्रोत्सव था। राजा आनन्दोत्सव मना ही रहा था कि अितनेमें भवितव्यताने आकर कहा कि विवाहके बाद चौथे ही दिन यह पुत्र सर्प-दंशसे मर जायगा। हंस राजाने अुस पुत्रको बचानेका निश्चय किया। अुसने यमुना नदीके दहमें अेक सुरक्षित घर बनवाकर हैमराजाको वहाँ आकर रहनेका निमंत्रण दिया। सोलह साल बाद राजपुत्रका विवाह हुआ। विवाहसे ठीक चौथे ही दिन अुस दुर्गम स्थानमें भी सर्प प्रकट हुआ और राजपुत्र मर गया। आनन्दकी घड़ी अपार शोकमय बन गअी। क्रूर यमदूतोंको भी अिस करुण अवसरपर दया आअी, और अुन्होंने यमराजसे यह वर माँग लिया कि दीवालीके पाँच दिनोंमें जो लोग दीपोत्सव मनायें, अुनपर अिस तरहकी आपत्ति न आवे।

यह तो हुअी धनतेरसकी कहानी। नरक-चतुर्दशीके दिन तो यमराजका और भीष्मका तर्पण विशेषरूपसे कहा गया है। दीवाली तो अमावस्याका दिन। अुस दिन यमलोकवासी पितरोंका पूजन और पार्वण श्राद्ध तो करना ही पड़ता है। प्रतिपदाके दिन यम-राजसे सम्बन्ध रखनेवाली कोअी कथा नहीं कही गअी है; लेकिन अैसा मान लेनेमें कोअी हर्ज नहीं कि यमराज भी अुस दिन अपना नया वहीखाता खोलते होंगे। भैयादूजके दिन यमराज अपनी बहन यमुनाके घर भोजन करने जाते हैं। दीवालीकी स्वच्छन्दताके

साथ यमराजका स्मरण रखनेमें अुत्सवकारोंका अुद्देश्य चाहे जो रहा हो, लेकिन अिसमें शक नहीं कि अुसका असर बहुत अच्छा होता होगा। जिसने अुत्सवमें भी संयमका पालन किया होगा, वही यमराजके पाशसे मुक्त रह सकेगा।

नवम्बर, १९२१

(२)

दीवानखानेमें अेकाध सुन्दर चीज रखनेका रिवाज प्रत्येक घरमें होता है। बाहरका कोअी व्यक्ति आता है, तो सहज ही अुसकी नजर अुस तरफ जाती है और वह पूछ बैठता है—'वाह! कैसी बढ़िया चीज है! यह आपको कहाँसे मिली?" लेकिन अजायबघरमें तो जहाँ देखिये वहाँ सुन्दर-ही-सुन्दर चीजें दिखाअी देती हैं। अुन्हें देखकर मनुष्य बहुत खुश होता है। लेकिन साथ ही वह अुतना ही पसोपेशमें भी पड़ जाता है। वह अिसी सोचमें रहता है कि क्या देखूँ और क्या न देखूँ?

हमारी दीवाली त्योहारोंका अेक अैसा ही अजायब-घर है। अिसे सब त्योहारोंका स्नेह-सम्मेलन भी माना जा सकता है। दीवालीका त्योहार पाँच दिनोंका माना जाता है। लेकिन सच पूछिये तो ठेठ नवरात्रिके त्योहारसे अिसका प्रारंभ होता है, और भाअीदूजकी भेंटमें अिसका आनन्द अपनी परिसीमा तक पहुंच जाता है।

शास्त्रोंमें प्रत्येक त्योहारोंका माहात्म्य और कथा दी गअी है। दीवालीके बारेमें अितनी कहानियाँ हैं कि यदि 'दीवाली माहात्म्य' लिखा जाय, तो वह अेक बड़ा पोथा बन जायगा। धनतेरसकी कथा अलग, नरक चौदसकी कहानी अलग, और अमावस (दीवाली) की अपनी अेक कहानी अलग। अिसके बाद नया साल शुरू होता है। और दूजके दिन बहनके घर भाअी अतिथि बनकर जाता है। दीवाली गृहस्थाश्रमी त्योहार है: जनताका

त्योहार है। श्रावणीके दिन धर्म और शास्त्र प्रधान होते हैं; दशहरेके दिन युद्ध और शस्त्रास्त्र प्रमुख रहते हैं, दीवालीके दिन लक्ष्मी और धनको प्राधान्य प्राप्त होता है और होली तो खेल और रंग-रागका त्योहार है। जिस तरह मनुष्योंमें चार वर्ण हैं, अुसी तरह त्योहारोंमें भी चार वर्ण हो गये हैं।

पुरातन कालमें लोग श्रावणीके दिन जहाजोंमें बैठकर समुद्र पार देश-देशान्तरमें सफ़र करने जाते थे। दशहरेके दिन राजा लोग और योद्धागण अपनी सरहदोंको पार करके शत्रुपर चढ़ाअी करने निकलते थे और दीवालीके दिन राजा लोग और व्यापारीगण स्वदेश वापस आकर कौटुम्बिक सुखका अुपभोग करते थे।

पुराणोंमें कथा है कि नरकासुर नामका अेक पराक्रमी राजा प्राग्ज्योतिषमें राज करता था। भूटानके दक्षिण तरफ़ जो प्रदेश है अुसे प्राग्ज्योतिष कहते थे। आज वह असम प्रान्तमें सम्मिलत है। नरकासुरका दूसरे राजाओंसे लड़ना तो घड़ीभरके लिये सहन कर लिया जा सकता था; किन्तु अुस दुष्टने स्त्रियोंको भी सताना शुरू किया। अुसके कारागारमें सोलह हज़ार राजकन्याअें थीं। श्रीकृष्णने विचार किया कि यह स्थिति हमारे लिये कलंकरूप है। अब तो नरकासुरका नाश करना ही होगा। सत्यभामाने कहा—"आप स्त्रियोंके अुद्धारके लिये जा रहे हैं, तो फिर मैं घर कैसे रह सकती हूँ? नरकासुरके साथ मैं ही लड़ूँगी। आप चाहे मेरी मददमें रहें!"

श्रीकृष्णने यह बात मान ली। अुस दिन रथमें सत्यभामा आगे बैठी थीं और श्रीकृष्ण मददके लिये पीछेकी तरफ बैठे थे। चतुर्दशीके दिन नरकासुरका नाश हुआ। देश स्वच्छ हो गया। लोगोंने आनन्द मनाया। यह बतानेके लिये कि नरकासुरका बड़ा भारी जुल्म दूर हुआ, लोगोंने रातको दीपोत्सव मनाया और

अमावसकी रातमें भी पूर्णिमाकी शोभा दिखलाओ।

लेकिन यह नरकासुर अेक वार मारनेसे मरनेवाला नहीं है। अुसे तो हर साल मारना पड़ता है। चौमासेमें सब जगह कीचड़ हो जाता है. अुसमें पेड़के पत्ते, गोवर, कीड़े वगैरा पड़ जाते हैं, और अिस तरह गाँवके आस-पास नरक—गंदगी—फैल जाता है। वर्षाके बाद जब भादोंकी धूप पड़ती है, तो अिस नरककी दुर्गंध हवामें फैल जाती है, जिससे लोग बीमार पड़ते हैं। अिसलिये बहादुर लोगोंकी आरोग्य-सेना कुदाली-फावड़ा वगैरा लेकर अिस नरकके साथ लड़ने जाय, गाँवके आस-पासके नरकका नाश करे, और घर आकर बदनपर तेल मलकर नहाये। गोशाला तो साफ़ की हुअी होती ही है; अुसमेंसे मच्छरोंको निकाल देनेके लिये रात वहाँ दीया जलाये, धुआँ करे और फिर प्रसन्न होकर मिष्टान्नों और पक्वान्नोंका भोजन करे।

  

दीवालीके बाद नया वर्ष शुरू होता है, और घरमें नया अनाज आता है। हिन्दुओंके घरोंमें वेदकालसे लेकर आजतक अिस नवान्नकी विधिका श्रद्धापूर्वक पालन होता है। महाराष्ट्रमें अिस भोजनसे पहले अेक कडुअे फलका रस चखनेकी प्रथा है। अिसका अुद्देश्य यह होगा कि कडुअी मेहनत किये बिना मिष्टान्न नहीं मिल सकता। भगवद्‌गीतामें भी लिखा है कि आरंभमें जो जहरके समान है, और अन्तमें अमृतके समान, वही सात्त्विक सुख है। गोआमें दीवालीके दिन चिअुड़ेका मिष्टान्न बनाते हैं और जितने भी अिष्ट-मित्र हों, अुन सबको अुस दिन निमंत्रण देते हैं। अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिको अपने प्रत्येक अिष्ट-मित्रके यहां जाना ही चाहिये। प्रत्येक घरमें फलाहार रखा रहता है, अुसमेंसे अेकाध टुकड़ा चखकर आदमी दूसरे घर जाता है। व्यवहारमें कटुता आयी हो, दुश्मनी बँधी हो, या जो भी कुछ हुआ हो,

दीवालीके दिन मनसे वह सब निकाल देते हैं, और नया प्रीति-सम्बन्ध जोड़ते हैं। जिस प्रकार व्यापारी दीवालीपर सब लेन-देन चुका देते हैं, और नये वहीखातेमें बाकी नहीं खींचते, अुसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति नये वर्षके प्रारंभमें हृदयमें कुछ भी वैर या जहर बाकी नहीं रहने देता। जिस दिन बस्तीमेंसे नरक--गंदगी-निकल जाय, हृदयसे पाप निकल जाय, रात्रिमेंसे अन्धकार निकल जाय, हृदयसे और सिरपरसे कर्ज दूर हो जाय, अुस दिनसे बढ़कर दूसरा पवित्र दिन कौनसा हो सकता है?

३०-११-२१

(३)

जो सोलहों आने पक्की है, जिसके बारेमें तनिक भी शक नहीं, अैसी चीज जिन्दगीमें कौनसी है? सिर्फ अेक; और वह है मृत्यु!

राजा हो या रंक, बूढ़ी कुब्जा हो या लावण्यवती अिन्दुमती, शेर हो या गाय, बाज हो या कबूतर, मृत्युकी भेंट तो हरअेकसे होने ही वाली है। अब सवाल यह है कि अिस निश्चित अतिथिका स्वागत हम किस तरह करें?

हम जिस प्रकार अुसे पहचानते हों, अुसी प्रकार अुसका स्वागत करें। मृत्युका स्वरूप कटहल-जैसा है। अूपर तो सब काँटे-ही-काँटे होते हैं; अन्दरका स्वाद न मालूम कैसा हो! मृत्यु अर्थात् घड़ीभरका आराम; मृत्यु अर्थात् नाटकके दो अंकोंके मध्यावकाशकी यवनिका; मृत्यु अर्थात् वाणीके अस्खलित प्रवाह-में आनेवाले विरामचिह्न। अंग्रेज कवि दूजके चाँदका स्वागत करते समय 'बालचन्द्रकी गोदमें वृद्ध चन्द्र' कहकर अुसका वर्णन करते हैं। अमावस तक पुराना चन्द्र सूख जाता है, क्षीण हो जाता है। अब वह अपने पैरोंपर कैसे खड़ा होगा? अिसलिये अुससे पैदा हुआ बालचन्द्र अपनी बारीक भुजायें फैलाकर अुस

बूढ़े काले चन्द्रको अुठा लेता है, और दूसरे दिन पश्चिमके रंगमंच पर ले आता है, और यों सारी दुनिया द्वारा तालियाँ बजाकर किये जानेवाले स्वागतको स्वीकार करता है। मुसलमान लोग 'अीदका चाँद' कहकर अिसीका स्वागत करते हैं। मृत्यु तो पुनर्जन्मके लिये ही है। प्रत्येक नअी पीढ़ी पुरानी पीढ़ीका तेज लेकर जवानीके जोशमें आगे बढ़ती रहती है; और पुरानी पीढ़ी बुढ़ापेके परावलंबनको महसूस करती हुअी लुप्त हो जाती है। यह कैसे भुलाया जा सकता है कि बूढ़ा, ठूँठा, जाड़ा प्रफुल्ल नववसन्तको अुंगली पकड़कर ले आता है? अिस बातको भुलानेसे काम न चलेगा कि हेमन्तकी काटनेवाली ठंडकमें ही वसन्तका प्रसव है।

दीवालीके दिन वसन्तकी अपेक्षासे, वसन्तकी मार्ग-प्रतीक्षासे अगर हम दीपोत्सव कर सकते हैं, मिष्टान्न भोजन कर सकते हैं, आनन्द और मंगलताका अनुभव कर सकते हैं, तो हम मृत्युसे क्यों न खुश हों?

दीवाली हमें सिखाती है कि मौतका रोना मत रोओ, मृत्युमें ही नवयौवन प्रदान करनेकी, नवजीवन देनेकी शक्ति है; दूसरोंमें नहीं।

दीवालीका त्यौहार मौतका अुत्सव है, मृत्युका अभिनन्दन है, मृत्यु परकी श्रद्धा है। निराशासे अुत्पन्न होनेवाली आशाका स्वागत है।

रुद्र ही शिव है, मृत्युका दूसरा रूप ही जीवन है।

यह किसे अच्छा न लगेगा कि यमराज अपनी बहनके घर जायँ? मृत्यु नित्यनूतनताके घर अुत्सव मनाये?

मृत्यु अग्नि नहीं, बल्कि तेजस्वी रत्नमणि है, जिसे छूनेमें कोअी खतरा नहीं।

अक्तूबर, १९२९

७

वसन्त पंचमी

वसन्त पंचमी अर्थात् ऋतुराजका स्वागत !

माघ शुक्ला पंचमीको हम वसन्त पंचमी कहते हैं, लेकिन प्रत्येक व्यक्तिके लिये अुसी दिन वसन्त पंचमी नहीं होती। ठंडे खूनवाले मनुष्यके लिये वह अितनी जल्दी नहीं आती।

वसन्त पंचमी प्रकृतिका यौवन है। जिसकी रहन-सहन प्रकृतिसे अलग न पड़ गअी हो, जो प्रकृतिके रंगमें रंग गया हो, वह मनुष्य बिना कहे ही, वसन्त पंचमीका अनुभव करता है। नदीके क्षीण प्रवाहमें अेकाअेक आयी हुअी ज़ोरकी बाढ़को जिस प्रकार हम अपनी आंखोंसे साफ़ देखते हैं, अुसी प्रकार हम वसन्तको भी आता हुआ देख सकते हैं। अलबत्ता, वह अेक ही समयपर सबके हृदयोंमें प्रवेश नहीं करता।

जब वसन्त आता है तो यौवनके अुन्मादके साथ आता है। यौवनमें सुन्दरता होती है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि अुसमें हमेशा क्षेम भी होता है। यौवनमें शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यकी रक्षा करना बहुत ही कठिन हो जाता है। यही हालत वसन्तमें भी होती है। तारुण्यकी तरह वसन्त भी मनमौजी और चंचल होता है। अिन दिनों कभी जाड़ा मालूम होता है, कभी गरमी; कभी जी अूबने लगता है, तो कभी अुल्लास मालूम होने लगता है। खोअी हुअी शक्तिको जाड़ेमें फिरसे प्राप्त किया जा सकता है। मगर जाड़ेमें प्राप्त की हुअी शक्तिको वसन्तमें संचित कर रखना आसान नहीं है। वसन्तमें संयमका पालन किया जाय, तो सारे वर्षके लिये आरोग्यकी रक्षा हो जाती है। वसन्तऋतुमें जीवमात्रपर अेक चित्ताकर्षक कान्ति छा जाती है; पर वह अुतनी ही खतरनाक भी होती है।

वसन्तके अुल्लासमें संयमकी भाषा शोभा नहीं देती; सहन भी नहीं होती; परन्तु अिसी समय अुसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। अगर क्षीण मनुष्य पथ्यसे रहे, तो अुसमें कौन आश्चर्यकी बात है? अुससे लाभ भी क्या? किसी तरह जीवित रहनेमें क्या स्वारस्य है? सुरक्षित वसन्त ही जीवनका आनन्द है।

वसन्त अुड़ाअू होता है। अिसमें भी प्रकृतिका तारुण्य ही प्रकट होता है। कितने ही फूल और फल मुरझा जाते हैं। मानो प्रकृति जाड़ेकी कंजूसीका बदला ले रही हो। वसन्तकी समृद्धि कोअी शाश्वत समृद्धि नहीं। जितना कुछ दिखाअी देता है, अुतना टिकता नहीं।

राष्ट्रका वसन्त भी अक्सर अुड़ाअू होता है। कितने ही फूल और फल बड़ी-बड़ी आशाअें दिखाते हैं; लेकिन परिपक्व होनेसे पहले ही मुरझाकर गिर पड़ते हैं। सच्चे वही हैं, जो शरद् ऋतु तक क़ायम रहते हैं। राष्ट्रके वसन्तमें संयमकी वाणी अप्रिय मालूम होती है, परन्तु वही पथ्यकर होती है।

अुत्सवमें विनय, समृद्धिमें स्थिरता, यौवनमें संयम—यही सफल जीवनका रहस्य है। फूलोंकी सार्थकता अिसी बातमें है कि अुनका दर्प फलके रसमें परिणत हो।

वसन्त पंचमीके अुत्सवकी सृष्टि न तो शास्त्रकारों द्वारा हुअी है, और न धर्माचार्योंने अुसे स्वीकार ही किया है। अुसे तो कवियों और गायकों, तरुणों और रसिकोंने जन्म दिया है। कोयलने अुसे आमंत्रण दिया है और फूलोंने अुसका स्वागत किया है। वसन्तके मानी हैं, पक्षियोंका गान, आम्र-मञ्जरियोंकी सुगन्ध, शुभ्र अभ्रोंकी विविधता और पवनकी चञ्चलता। पवन तो हमेशा ही चञ्चल होता है; लेकिन वसन्तमें वह विशेष भावसे क्रीड़ा करता है। जहाँ जाता है, वहाँ पूरे जोश-ख़रोशके

साथ जाता है; जहाँ बहता है, वहाँ पूरे वेगसे बहता है; जब गाता है तब पूरी शक्तिके साथ गाता है और थोड़ी देरमें बदल भी जाता है।

वसन्तसे संगीतका नया सूत्र शुरू होता है। गायक आठों पहर वसन्तके आलाप ले सकते हैं। वे न तो पूर्व रात्रि देखते हैं, न अुत्तर रात्रि।

जब संयम, औचित्य और रस तीनोंका संयोग होता है, तभी संगीतका प्रवाह चलता है। जीवनमें भी अकेला संयम स्मशानवत् हो जायगा, अकेला औचित्य दंभरूप हो जायगा, और अकेला रस क्षणजीवी विलासितामें ही खप जायगा। अिन तीनोंका संयोग ही जीवन है। वसन्तमें प्रकृति हमें रसकी बाढ़ प्रदान करती है। अैसे समय संयम और औचित्य ही हमारी पूंजी होने चाहियें।

फरवरी, १९२३

८

हरिणोंका स्मरण

अेक विशाल वन था। बीस-बीस, तीस-तीस कोस तक न झोंपड़ीका पता था, न मुसाफ़िरोंके कामचलाअू चूल्होंका। वनमें अेक रमणीय तालाब था। तालाबके पास कुछ हरिण रहते थे। तालाबके किनारे बेलका अेक पेड़ था। अुस पेड़के नीचे पाषाण-रूपमें महादेवजी विराजमान थे। हरिण रोज तालाबमें नहाते, महादेवजीके दर्शन करते, और चरने जाते। दोपहरको आकर बेलके पेड़के नीचे विश्राम करते; शामको तालाबका पानी पीकर महादेवजीके दर्शन करते और सो जाते। बिना कोअी शास्त्र पढ़े ही हरिणोंको धर्मका ज्ञान हुआ था। अिसलिये वे सन्तोष-पूर्वक अपना निर्दोष जीवन व्यतीत करते थे।

माघका महीना था। कृष्णपक्षकी चतुर्दशीके दिनकी बात है। अेक विकराल व्याध अुस वनमें घुसा। शाम हुआ ही चाहती थी। व्याध बहुत ही भूखा था। व्याधोंकी भूख अैसी-वैसी भूख नहीं होती। अगर अुन्हें कुछ न मिले तो वे कच्चा मांस ही खाने बैठ जाते हैं। लेकिन हमारे अिस व्याधको अपनी भूखका दुःख न था—"घरमें बाल-बच्चे भूखे हैं, अुन्हें क्या खिलाअूँ? क्या मुँह लेकर घर जाअूँ? अगर शिकार न मिला, तो खाली हाथ घर जानेकी अपेक्षा रात वनमें ही रह जाना अच्छा होगा--शायद कुछ हाथ लग जाय।" अिस तरह सोचता हुआ वह तालाबके किनारे आया और बेलके पेड़पर चढ़कर बैठ गया।

अपने बाल-बच्चोंके भरण-पोषणके लिये स्वयं बहुत कष्ट अुठाने और खतरोंका सामना करनेको ही वह अपना धर्म समझता था। अिससे अधिक व्यापक धर्मका ज्ञान अुसे नहीं था।

रात हुअी। कृष्णपक्षकी घोर अँधेरी काली रात। कुछ दिखाअी न पड़ता था। व्याधने तालाबकी ओर देखनेमें रुकावट डालनेवाले बेलके पत्तोंको तोड़-तोड़ कर नीचे फेंक दिया। अितनेमें वहाँ दो-चार हरिण पानी पीने आये। पेड़पर बैठे व्याधको देखकर वे चौंक पड़े और निराशाभरे स्वरमें बोले—"हे व्याध, अपने धनुषपर बाण न चढ़ा। हम मरनेको तैयार हैं, पर हमें अितना समय दे दे कि हम घर जाकर अपने बाल-बच्चों और सगे-सम्बन्धियोंसे मिल आयें। सूर्योदयसे पहले ही हम यहाँ हाज़िर हो जायँगे।"

व्याध खिलखिलाकर हँस पड़ा। बोला—"क्या तुम मुझे बुद्धू समझते हो? क्या मैं अिस तरह अपने हाथ आये शिकारको छोड़ दूँ? मेरे बाल-बच्चे तो अुधर भूखों तड़प रहे हैं।"

"हम भी तेरी तरह बाल-बच्चोंका ही ख़याल करके अितनी

छुट्टी चाह रहे हैं। अेक वार आजमाकर तो देख कि हम अपने वचनका पालन करते हैं या नहीं ?”

व्याधके मनमें श्रद्धा और कौतुक जाग अुठा। ठीक सूर्योदय-से पहले लौट आनेकी ताक़ीद करके अुसने अुन हरिणोंको घर ज़ाने दिया और ख़ुद वेलके पत्तोंको तोड़ता हुआ रातभर जागता रहा। श्रद्धावान् व्याधके हाथों अपने सिरपर पड़े विल्वपत्रोंसे महादेवजी संतुष्ट हुअे।

ठीक सूर्योदयका समय हुआ, और हरिणोंका अेक वड़ा दल वहाँ आ पहुँचा।

हरिण घर गये, वाल-वच्चोंसे मिले, अपने सींगोंसे अेक-दूसरेके खुजलाया, नन्हें वच्चोंको प्रेमसे चाटा, अुन्हें व्याधकी कहानी कह सुनाअी और विदा मांगी।

“दुष्ट व्याधके साथ वचन-पालन कैसा ? ‘शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्।’ पैरोंमें जितना ज़ोर हो अुतना सव ज़ोर लगाकर यहाँ-से चुपचाप भाग जाओ !” अैसी सलाह देनेवाला अुनमें कोअी न निकला। सगे-सम्वन्धियोंने कहा—“चलो हम भी साथ चलते हैं। स्वेच्छासे मृत्यु स्वीकार करनेपर मोक्ष मिलता है। आपके अपूर्व आत्म-यज्ञको देखकर हम पुनीत होंगे !”

वाल-वच्चे साथ हो लिये। मानो सव व्याधकी हिंस्रताकी परीक्षा करने ही निकले हों !

सूर्योदयसे पहले ही सारा दल वहाँ आ पहुँचा। रातवाले हरिण आगे वढ़े और वोले—“लो भाअी, हम वधके लिये तैयार हैं।” दूसरे हरिण भी वोल अुठे—“हमें भी मार डालो ! अगर हमें मारनेसे तुम्हारे वाल-वच्चोंकी भूख शान्त होती है, तो अच्छा ही है।” व्याधकी हिंसावृत्ति रात्रिकी तरह लुप्त हो गअी। सारे दिनका अुपवास और सारे रातके जागरण-से अुसकी चित्तवृत्ति अन्तर्मुख हुअी थी। तिसपर अिन

'प्रतिज्ञा-पालक हरिणोंका धर्माचरण देखकर वह दङ्ग रह गया। अुसके हृदयमें नया प्रकाश फैला। अुसे प्रेम-शौर्यकी दीक्षा मिली। वह पेड़से अुतरा और हरिणोंकी शरण गया। दो पैर-वालेने चार पैरवाले पशुओंके पैर छुअे। आकाशसे श्वेत पुष्पों-की वृष्टि हुअी। कैलाशसे अेक बड़ा विमान अुतर आया। व्याध और हरिण अुसमें बैठे और कल्याणकारिणी शिवरात्रिका महात्म्य गाते हुअे शिवलोक सिधारे। आज भी वे दिव्य रूपमें चमकते हैं।'[1]

महाशिवरात्रिका दिन मानो अिन धर्मनिष्ठ, सत्यव्रत हरिणोंके स्मरणका ही दिन है।[2]

मार्च, १९२२

---

१ मृगनक्षत्र और व्याध

२ अेकादशी, अष्टमी, चतुर्थी और शिवरात्रि ये सब हिन्दू महीने में हमेशा आनेवाले त्योहार हैं। वैष्णवोंने अेकादशीको सबके लिये लोकप्रिय बना दिया है। गणपतिके अुपासक विनायकी और संकष्टी चतुर्थीका व्रत रखते हैं। देवीके अुपासक अष्टमीका व्रत रखते हैं। शिवरात्रि हर महीने कृष्णपक्षकी चतुर्थीके दिन आती है। शैव लोग शिवरात्रिका व्रत रखते हैं। जिस तरह अेकादशियोंमें आषाढ़ी और कार्तिकी अेकादशियां महा-अेकादशियां हैं, अुसी तरह माघ महीनेकी शिवरात्रि महाशिवरात्रि है।

प्रत्येक मासके प्रत्येक त्योहारका अपना माहात्म्य और अुसकी अपनी अेक कथा होती है। अुनमेंसे महाशिवरात्रिकी कथा अूपर दी गअी है।

कहानीके अिस पुरातन क्षेत्रकी ओर लोक-कथाओंका संग्रह करने-वाले संशोधकोंका ध्यान जाना चाहिये।

९
गुलामोंका त्योहार

प्रत्येक त्योहारमें कुछ-न-कुछ ग्रहण करने योग्य अवश्य होता है। लेकिन क्या आजकलकी होलीसे भी कुछ शिक्षा मिल सकती है? पिछले बीस-पचीस बरसोंमें यह त्योहार जिस ढंगसे मनाया गया है, अुसे देखते हुअे तो अिसके विषयमें किसी तरहका अुत्साह अुत्पन्न नहीं होसकता। न अिसका प्राचीन अितिहास, और न पौराणिक कथाअें ही इस त्योहारपर कोअी अच्छा प्रकाश डालती हैं। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही चाहिये कि होली अेक प्राचीनतम त्योहार है। जाड़ेके समाप्त होनेपर अेक जबर-दस्त होली जलाकर आनन्दोत्सव मनानेका रिवाज हरअेक देशमें और हरअेक जमानेमें मौजूद रहा है। अिस अुत्सवमें लोग संयमकी लगाम ढीली छोड़कर स्वच्छंदताका थोड़ा आस्वाद लेना चाहते हैं।

हिन्दुओंमें अकेले मनुष्योंकी ही जाति नहीं होती, बल्कि देवताओं, पशु-पक्षियों और त्योहारोंकी भी अपनी जातियाँ होती हैं। स्वर्गके अष्टावसु जातिके वैश्य हैं, नाग और कबूतर ब्राह्मण होते हैं और तोता बनिया माना जाता है। अिसी तरह होलीका त्योहार शूद्रोंका त्योहार है। क्या अिसीलिये किसी जमानेके बिगड़े हुअे शूद्रों द्वारा होलीका यह कार्यक्रम बनाया गया था और अुनके हक़ोंको क़ायम रखनेके लिये दूसरे वर्णोंने अुसे स्वीकार कर लिया था? पुराणोंमें अेक नियम है कि होलीके दिन अछूतोंको छूना चाहिये। भला अिसका क्या अुद्देश्य रहा होगा? द्विज लोग संस्कारी अर्थात् संयमी और शूद्र स्वच्छन्दी हैं, क्या अिसी विचारसे होलीमें अितनी स्वच्छन्दता रखी गअी है। होलीके दिन राजा-प्रजा अेक होकर अेक-दूसरेपर रंग अुड़ाते हैं। क्या अिसका आशय यह है कि सालमें कम-से-कम चार-पाँच दिन तो सब

लोग समानताके सिद्धान्तका अनुभव करें।

होली यानी काम-दहन; वैराग्यकी साधना। विषयको काव्यका मोहक रूप देनेसे वह बढ़ता है। अुसीको बीभत्स स्वरूप देकर, नंगा करके, समाजके सामने अुसका असली रूप खड़ा करके, विषयभोगके प्रति घृणा अुत्पन्न करनेका अुद्देश्य तो अिसमें नहीं था न ? जाड़ेभर जिसके मोहपाशमें फँसे रहे, अुसकी दुर्गति करके, अुसे जलाकर और पश्चात्तापकी राख शरीरपर मलकर वैराग्य धारण करनेका अुद्देश्य तो अिसमें नहीं था न ?

अिसकी जड़में प्राचीन कालकी लिंग-पूजाकी विडम्बना तो नहीं थी न ?

लेकिन होलिकाका अर्थ वसन्तोत्सव भी तो है। जाड़ा गया, वसन्तका नूतन जीवन वनस्पतियोंमें भी आ गया। अतः जाड़ेमें जमा करके रखी हुअी तमाम लकड़ियोंको अेकत्र-करके आखिरी बार आग जलाकर ठंडको विदा करनेका तो यह अुत्सव नहीं है न ? और यह ढुंढा राक्षसी कौन है ? कहते हैं कि यह नन्हें बच्चोंको सताती है। होलीके दिन जगह-जगह आग सुलगाकर, शोर-गुल मचाकर अुसे भगा दिया जाता है। अिसमें कौन-सी कवि-कल्पना है ? क्या रहस्य है ?

लोगोंमें अश्लीलता तो है ही। वह मिटाये मिट नहीं सकती। कुछ लोगोंका खयाल है कि 'तुष्यतु दुर्जनः' न्यायके अनुसार अुसे सालमें अेक दिन दे देनेसे वह हीन वृत्ति वर्षभर क़ाबूमें रहती है। अगर यह सच है, तो वह अेक भयंकर भूल है। आगमें घी डालनेसे वह कभी क़ाबूमें नहीं रहती। पाप और अग्निके साथ स्नेह कैसा ? वसन्तका अुत्सव अीश्वर स्मरण-पूर्वक सौम्य रीतिसे मनाना चाहिये। क्या दीवालीमें अुत्सवका आनन्द कम होता है ? क्या लकड़ियोंकी होली जलानेसे ही सच्चा वसन्तोत्सव मनाया जा सकता है ? यदि यह माना

जाय कि होलिका अेक राक्षसी थी और अुसे जलानेका यह त्योहार है, तो हम अुसे चुराकर लाअी हुअी लकड़ियोंसे नहीं जला सकते। होलिका राक्षसी तो प्रह्लादकी निर्वैर पवित्रतासे ही जल सकती है।

हमें यह सोचना चाहिये कि हमारे त्योहार हमारे राष्ट्रीय जीवन और हमारी संस्कृतिके प्रतिबिम्ब हैं या नहीं ? मनुष्यमात्र अुत्सवप्रिय है परन्तु स्वतंत्र मनुष्योंका अुत्सव जुदा होता है, और ग़ुलामोंका जुदा। जो स्वतंत्र होता है, जिसके सिर ज़िम्मेदारी होती है, जिसको अधिकारका अुपयोग करना होता है, अुसकी अभिरुचि सादी और प्रतिष्ठित होती है। जो परतंत्र होता है, जिसे अपने अुत्तरदायित्वका ज्ञान नहीं, जिसके जीवनमें कोअी महत्त्वाकांक्षा नहीं अुसकी अभिरुचि बेढंगी और अतिरेक-युक्त होती है। अेक ग्रंथकारने लिखा है कि स्त्रियोंको तरह-तरहके रंग जो पसन्द आते हैं, और रंग-बिरंगी व चित्र-विचित्र पोशाककी ओर अुनका मन जो दौड़ा करता है, अुसका कारण अुनकी परवशता है। यदि स्त्री स्वाधीन हो जाय, तो अुसका पहनावा भी सादा और सफेद हो जायगा। स्त्रियोंके सम्बन्धमें यह बात सच हो या न हो, मगर जनता पर तो यह भलीभांति चरितार्थ होती है। जिस ज़मानेमें जनता अधिकारहीन, परतन्त्र, बालवृत्तिवाली और ग़ैरज़िम्मेदारी रही होगी, अुसी ज़मानेमें मूर्खतापूर्ण कार्यों द्वारा अिस त्योहारको मनानेकी यह प्रथा प्रचलित हुअी होगी।

रोमन लोगोंमें सैटर्नेलिया नामसे ग़ुलामोंका अेक त्योहार मनाया जाता था। अुस दिन ग़ुलाम अपने मालिकके साथ खाना खाते, जुआं खेलते, आज़ादीसे बोलते-चालते और खुशियां मनाते। अुस दिन अितना आनन्द मनानेके बाद फिर अेक साल तक ग़ुलामीमें रहनेकी हिम्मत अुनमें आ जाती थी।

स्वराज्यवादी जनताको अधिक गम्भीर बनना चाहिये। अपनी योग्यता क्या है, अपनी स्थिति कैसी है, आदि बातोंका विचार करके अुसको अैसा जीवन बिताना चाहिये, जो अुसे शोभा दे। अगर वसन्तोत्सव मनाना है, तो समाजमें नया जीवन पैदा करके यह त्योहार मनाना चाहिये। अगर काम-दहन करना है, तो ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके पवित्र बनना चाहिये। यदि होलिकोत्सव गुलामोंके लिये अेकमात्र सांत्वना-का साधन हो, तो स्वराज्यकी ख़ातिर अुसे तुरन्त ही मिटा देना चाहिये। अगर भाषाके भण्डारमेंसे गालियोंकी पूँजी कम हो जाय, तो अुसके लिये शोक करनेकी कोअी ज़रूरत नहीं। होलीके दिनोंमें शहरों और गांवोंकी सफ़ाअी करनेमें हम अपना समय बिता सकते हैं। लड़के कसरत करने और बहादुरीके मरदाने खेल खेलनेमें तथा शराबके व्यसनमें फँसे हुअे लोगोंके मुहल्लोंमें जाकर अुन्हें शराबख़ोरी छोड़ देनेका व्यक्तिगत अुपदेश देनेमें अिस दिनका अुपयोग कर सकते हैं। स्त्रियां स्वदेशीके गीत गा-गाकर खादीका प्रचार कर सकती हैं।

प्रत्येक त्योहारका अपना अेक स्वराज्य-संस्करण अवश्य होना चाहिये, क्योंकि स्वराज्यका अर्थ है; आत्म-शुद्धि और नवजीवन।